हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३३ अंक ३

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
★ १९९५ ★

प्रबन्ध संपादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/-	वर्ष ३३ अंक ३	एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर
कम्पोजिंग : लेज़रपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकर नगर, रायपुर

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३३ जुलाई-अगस्त-सितम्बर अंक ३

१९९५

तृष्णा की महिमा

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित् फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशङ्कया काकव-
त्तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि सन्तुष्यसि ।।

– अनेक दुर्गम तथा विषम स्थानों में भटकने पर भी मुझे कोई फल नहीं मिला। अपने जाति-कुल के अभिमान को त्यागकर की हुई मेरी सेवा भी व्यर्थ गई। कौए के समान डरते तथा अपमान सहते हुए मैं दूसरों के घर खाता रहा। हे पापकर्मों में लगानेवाली तृष्णे! इतने पर भी तुझे सन्तोष नहीं हुआ, दिन-पर-दिन तू बढ़ती ही जा रही है।

– भर्तृहरिकृत **'वैराग्यशतकम्'** - २

विवेक-गीति

'विदेह'

–१ –

(बहार-कहरवा)

नमो नरेन्द्र विवेकानन्द, त्रिभुवन पावनकारी ।
ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-प्रेम से, भूषित नरतनु धारी ।।

गुरु सन्देश लिए अन्तर में,
निर्भय तुम विचरे जग भर में ।
उपनिषदों के ज्ञानमृत से, जन मन सिंचनकारी ।।

देख दीनजन की दुर्गति को,
करने को निस्तार व्यथित हो ।
सेवा का नवधर्म सिखाया, दुःख-ताप-भय हारी ।।

–२–

(बिहाग-कहरवा)

वीर विवेकानन्द महान ।
कृष्ण समान प्रबल कर्मठता, बुद्ध-हृदय शंकर का ज्ञान ।।

चिर समाधि के गिरि शिखरों से, द्रवित हुए तुम आर्त-स्वरों से;
करुणा गंगा होकर उतरे, शीतल करने जन मन प्राण ।।

धर्म-कर्म का मर्म बताया, पूरब पश्चिम मेल कराया;
वेद सुधा का सिंचन करते, निर्भय विचरे सिंह समान ।।

दीन दुखी पापी पतितों में, देखा ब्रह्म सकल जनितों में;
बतलाया हमको इस सबकी, पूजा करो सहित सम्मान ।।

अग्नि-मंत्र

(आलासिंगा पेरूमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका
१८९४

प्रिय आलासिंगा,

एक पुरानी कहानी सुनो। एक निकम्मे भिखमंगे ने सड़क पर चलते चलते एक वृद्ध को अपने मकान के द्वार पर बैठा देखकर रुककर उससे पूछा, "अमुक ग्राम कितनी दूर है ?" बुड्ढ़ा चुप रहा। भिखमंगे ने कई बार प्रश्न किया, परन्तु उत्तर न मिला। अन्त में जब वह उकताकर वापस जाने लगा, तब बुड्ढ़े ने खड़े होकर कहा, " वह ग्राम यहाँ से एक मील है।" भिखमंगा कहने लगा, " जब मैंने तुमसे पहली बार पूछा था, तब तुमने क्यों नहीं बताया ?" बुड्ढे ने उत्तर दिया, "क्योंकि पहले तुमने जाने के लिए लापरवाही दिखायी थी और दुविधा में मालूम होते थे; परन्तु अब तुम उत्साहपूर्वक आगे बढ़ रहे हो, इसलिए अब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गये हो !"

क्या तुम यह कहानी याद रखोगे मेरे बच्चे ? काम आरम्भ करो, शेष सब कुछ आप ही आप हो जायेगा। **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।** (गीता ९/२२) – "जो सब कुछ त्यागकर अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य-समाहित व्यक्तियों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।"– यह भगवान की वाणी है, कवि-कल्पना नहीं।

बीच-बीच में मैं तुम्हारे पास कुछ रकम भेजता जाऊँगा, क्योंकि पहले कलकत्ते में भी मुझे कुछ रकम भेजनी पड़ेगी –मद्रास की अपेक्षा अधिक भेजनी पड़ेगी। वहाँ का कार्य मुझ पर ही निर्भर है। वहाँ कार्य केवल शुरू ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। उसे पहले देखना होगा। साथ ही कलकत्ते की अपेक्षा मद्रास में सहायता मिलने की आशा अधिक है। मेरी इच्छा है कि ये दोनों केन्द्र आपस में मिल-जुलकर काम करें। अभी शुरू शुरू में पूजा-पाठ, प्रचार आदि के रूप में कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। सभी के मिलने के लिए एक स्थान चुन लो एवं

प्रति सप्ताह वहाँ इकट्ठे होकर पूजा करो, साथ ही भाष्य सहित उपनिषद् पढ़ो; इस तरह धीरे धीरे काम और अध्ययन, दोनों करते जाओ। तत्परता से काम में लगे रहने पर सब ठीक हो जायेगा।

अब काम में लग जाओ। जी. जी. का स्वभाव भावप्रधान है, तुम समबुद्धि के हो, इसलिए दोनों मिल-जुलकर काम करो। काम में लीन हो जाओ – अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी; हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के लिए अमेरिका की पूँजी पर भरोसा मत करो, क्योंकि वह एक भ्रम ही है। मैसूर एवं रामनाड़ के राजा तथा दूसरे और लोगों को भी इस कार्य में सहानुभूति हो, ऐसा प्रयत्न करो। भट्टाचार्य के साथ परामर्श करके कार्य आरम्भ कर दो। केन्द्र बना सकना बहुत ही उत्तम बात होगी। मद्रास जैसे बड़े शहर में इसके लिए स्थान प्राप्त करने का यत्न करो और संजीवनी शक्ति का चारों ओर प्रसार करते जाओ। धीरे धीरे आरम्भ करो। पहले गृहस्थ प्रचारकों से श्रीगणेश करो, धीरे धीरे वे लोग भी आयेंगे, जो इस काम के लिए अपना जीवन अर्पित कर देंगे। शासक बनने की कोशिश मत करो – सबसे अच्छा शासक वह है, जो सबकी सेवा कर सकता है। मृत्युपर्यन्त सत्य पथ से विचलित न होओ। हम काम चाहते हैं। हमें धन, नाम और यश की चाह नहीं। कार्यारम्भ इतना सुन्दर हुआ है कि यदि इस समय तुम लोग कुछ न कर सके, तो तुम लोगों पर मेरा बिल्कुल विश्वास नहीं रहेगा। अपने कार्य का प्रारम्भ अति सुन्दर हुआ है। भरोसा रखो। जी जी. को अपनी गृहस्थी के भरण-पोषण के लिए कुछ करना तो नहीं पड़ता, फिर मद्रास में एक स्थायी स्थान का प्रबन्ध करने के लिए वह चन्दा इकट्ठा क्यों नहीं करता? मद्रास में केन्द्र स्थापित करने के लिए जनता में रुचि पैदा करो और कार्य प्रारम्भ कर दो। शुरू में प्रति सप्ताह एकत्र होकर स्तोत्र-पाठ, शास्त्र-पाठ आदि से प्रारम्भ करो। पूर्णतः निःस्वार्थ बनो, फिर सफलता अवश्यम्भावी है।

अपने कार्य की स्वाधीनता रखते हुए कलकत्ते के अपने श्रेष्ठ जनों के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखना।

मेरी सन्तानों को आवश्यकता पड़ने पर एवं अपने कार्य की सिद्धि के लिए आग में कूदने को भी तैयार हो जाना चाहिए। इस समय केवल काम, काम, काम! बाद में किसी समय काम स्थगित कर किसने कितना किया है, यह देखेंगे। धैर्य, अध्यवसाय और पवित्रता बनाये रखो।

मैं अभी हिन्दू धर्म पर कोई पुस्तक नहीं लिख रहा हूँ। मैं केवल अपने विचारों को स्मरणार्थ लिख लेता हूँ। मुझे मालूम नहीं कि मैं उन्हें कभी प्रकाशित कराऊँगा या नहीं। किताबों में क्या धरा है? दुनिया पहले ही बहुत-सी मुर्खताओ से भरी पड़ी है। यदि तुम वेदान्त के आधार पर एक पत्रिका निकाल सको, तो हमारे कार्य में सहायता मिलेगी। चुपचाप काम करो, दूसरों में दोष न निकालो। अपना सन्देश दो, जो कुछ तुम्हें सिखाना है, सिखाओ और वहीं तक सीमित रहो। शेष परमात्मा जानते हैं।

मिशनरी लोगों को यहाँ कौन पूछता है ? बहुत चिल्लाने के बाद वे लोग अब चुप हुए हैं। मुझे और समाचारपत्र न भेजो, क्योंकि मैं उनकी निन्दा की ओर ध्यान नहीं देता। इसी वजह से यहाँ मेरे बारे में लोगों की अच्छी धारणा है।

कार्य के अग्रसर होने के लिए कुछ शोर-गुल होने की आवश्यकता थी, वह बहुत हो चुका। देखते नहीं, दूसरे लोग बिना किसी भित्ति के ही कैसे अग्रसर कर रहे हैं ? और इतने सुन्दर तरीके से तुम लोगों का कार्य आरम्भ हुआ है कि यदि तुम लोग कुछ न कर सके, तो मुझे घोर निराशा होगी। यदि तुम सचमुच मेरी सन्तान हो, तो तुम किसी वस्तु से नहीं डरोगे, न किसी बात पर रुकोगे। तुम सिंहतुल्य होगे। हमें भारत को और पूरे संसार को जगाना है। कायरता को पास न आने दो। मैं नाहीं न सुनूँगा, समझे? मृत्युपर्यन्त सत्य पथ पर अटल रहकर मेरे कथानानुसार कार्यरत रहना होगा, फिर कार्यसिद्धि अवश्यम्भावी है। इसका रहस्य है गुरु-भक्ति, मृत्युपर्यन्त गुरु पर विश्वास; क्या यह तुममें है? मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह तुम्हें है। और तुम्हें यह भी विदित है कि मुझे तुम पर पूरा भरोसा है इसलिए काम में लग जाओ। सिद्धि अवश्यभावी है। तुम्हें पग पग पर मेरा आशीर्वाद है; मेरी प्रार्थना सदैव तुम्हारे साथ रहेगी। मेल से काम करो। हर एक के प्रति सहनशील रहो। सभी से मुझे प्रेम है। सदैव मेरी दृष्टि तुम पर है। आगे बढ़ो ! आगे बढ़ो ! अभी तो आरम्भ ही है। तुम जानते हो न कि मेरे यहाँ थोड़े से काम की भारत में बड़ी गूँज सुनायी दे रही है ? इसलिए मैं यहाँ से जल्दी नहीं लौटूँगा। मेरा विचार स्थायी रूप से यहाँ कुछ कर जाने का है, और इस लक्ष्य को अपने आगे रखकर मैं प्रतिदिन काम कर रहा हूँ। दिन-प्रतिदिन अमेरिकावासियों का मैं विश्वासपात्र बनता जा रहा हूँ। अपने हृदय और आशाओं को संसार के समान विस्तीर्ण कर दो। संस्कृत का

अध्ययन करो, विशेषकर वेदान्त के तीनों भाष्यों का। तैयार रहो, क्योंकि भविष्य के लिए मेरे पास बहुत सी योजनाएँ हैं। आकर्षक वक्ता बनने का प्रयत्न करो। लोगों में चेतना का संचार करो। मुझे कुछ काम करके दिखाओ – एक मन्दिर, एक प्रेस, एक पत्रिका या हम लोगों के लिये एक मकान। यदि मद्रास में ठहरने के लिए एक मकान का प्रबन्ध न कर सके, तो फिर मैं वहाँ कहाँ रहूँगा ? लोगों में बिजली भर दो ! चन्दा इकट्ठा करो एवं प्रचार करो। अपने जीवन के ध्येय पर दृढ़ रहो। अभी तक जो कार्य हुआ है, बहुत अच्छा हुआ है, इसी तरह और भी अच्छे कार्य और उससे भी अच्छे कार्य करते हुए आगे बढ़े चलो। मेरा विश्वास है कि इस पत्र के उत्तर में तुम लिखोगे कि तुमने कुछ काम किया है।

लोगों से लड़ाई न करो; किसी से बैरभाव मोल न लो। यदि नत्थू-खैरे जैसे लोग ईसाई बनते हैं, तो हम क्यों बुरा मानें ? जो धर्म उन्हें अपने मन के अनुकूल जान पड़े, उसका अनुगामी उन्हें बनने दो। तुम्हें वाद-विवाद में पड़ने से क्या मतलब? लोगों के भिन्न भिन्न मतों को सहन करो। अन्ततोगत्वा धैर्य, पवित्रता एवं अध्यवसाय की जीत होगी।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

विचारों का महत्व

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति के नियामक हैं। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो; दिन-पर-दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौंदर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता ? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उनके न रहने पर जीवन का कवित्व कहाँ रहता ?

– स्वामी विवेकानन्द

सौजन्य की कसौटी

स्वामी आत्मानन्द

मैं एक दिन कार द्वारा इन्दौर से ओंकारेश्वर जा रहा था। मेरे साथ १४-१५ वर्ष का मेरे एक परिचित का लड़का भी था। एक स्थान पर उसने एक सूचना-फलक की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। उस पर लिखा था – "सौजन्य से सभी खुश रहते हैं।" उस बालक ने मुझसे पूछा– "स्वामीजी, सौजन्य का क्या मतलब ?" मैंने कहा – "सुजनता"।

आपने भी वैसे सूचनाफलक स्थान स्थान पर पढ़े होंगे। मानो सरकार हमें स्मरण दिलाती रहती है कि हम सुजनता न छोड़ें। सौजन्य या सुजनता का मतलब है– "अच्छा व्यवहार"। सौजन्य बेरुखी या सूखेपन का उल्टा है। यदि हम किसी पद पर है और कोई हमारे पास अपना एक काम लेकर आया। उसके साथ हम दो प्रकार से व्यवहार कर सकते हैं। एक तो हम उसे बैठने के लिए न कहें और रूखेपन से कहें – तुम्हें क्या चाहिए लिखकर दे दो। दूसरे, उससे कहें – आइए, बैठिए, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ? इन दोनों तरीकों में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक है रूखापन, तो दूसरा, सौजन्य। एक से व्यक्ति क्षुब्ध होकर लौटता है, तो दूसरे से प्रसन्न होकर। एक गाली देता हुआ निन्दा करता है, तो दूसरा प्रशंसा करते नहीं अघाता।

मेरे एक परिचित मंत्री थे। जब लोग उनके पास कोई काम कराने जाते, तो झिड़क देते थे – "क्या पटवारी का काम भी मैं ही करूँगा ?" क्या मैं शाला-निरीक्षक हूँ, जो यह अर्जी मुझे देते हो ?" मैंने उन्हें सलाह दी – "आप रूखापन मत दिखाइए, अर्जी लीजिए, कहिए ठीक है, तुम्हारी माँग अगर उचित है तो मैं पटवारी से कहला दूँगा, शाला-निरीक्षक को सन्देशा भिजवा दूँगा।" उन्होंने मुझसे कहा – "क्या यह सरासर झूठा आश्वासन देना न होगा?"

यह विचारणीय प्रश्न है। सौजन्य का एक यह भी रूप है। मीठी मीठी बातें करके जो सामने है उसे खुश कर देना और उसका काम न करना। प्रश्न यह है कि चिकनी-चुपड़ी बात करके झाँसा देना क्या सौजन्य कहलाएगा ? झूठे आश्वासन देकर किसी को खुश करना क्या सौजन्य है?

नहीं, यह सौजन्य नहीं है। सौजन्य का तात्पर्य है – दूसरों के प्रति

सद्भाव रखते हुए उन्हें सहायता देने की इच्छा, तथा साथ ही एहसान जताने का अभाव। जैसे, कोई मेरे पास किसी काम के लिए आया। यदि मुझसे वह काम न बनता हो, तो मीठी जबान से उसे समझा दूँ कि वह मेरे बस की बात नहीं है। यदि काम उचित न लगता हो तो उसे बता दूँ कि भाई, यह तो मैं नहीं कर सकूँगा। यदि काम उचित हो और मैं उसे किसी प्रकार की मदद दे सकता हूँ, तो उसकी चेष्टा करूँ। यह सौजन्य का सही पक्ष है।

कुछ लोग काम करें या न करें, एहसान जताने की कोशिश करते हैं। यह सौजन्य नहीं है। यह भी सौजन्य नहीं कि हमारे पास जो फालतू हो, जिसे हम फेंकना चाहते हों, उसे दूसरे को देकर एहसान जताएँ। जैसे मैंने दो गृहिणियों की बात सुनी। एक दूसरे से कह रही थी – "मेरे घर ऐसा कुछ बचा, जो हम लोग न खा सकते हों, तो हमारे पतिदेव उसे फेंकने के लिए कह देते हैं। उस दिन केले आये, गिल-गिले हो गये। वो तो कह रहे थे कि फेंक दूँ। पर बहन, मैंने तो नौकर को बुलाकर दे दिया, कहा – ले, अपने बच्चों को दे देना। इससे चीज भी काम आ गयी और नौकर पर एहसान भी हो गया।" अब, भले ही ऊपर से यह सौजन्य-सा प्रतीत होता हो, पर सौजन्य नहीं है। वहाँ नौकर के बच्चों के प्रति हित की भावना नहीं है। सौजन्य हमारे भीतर दूसरे के हित की भावना पैदा करता है।

फिर, सौजन्य की कसौटी अपने से उच्च अधिकारियों के प्रति हमारे व्यवहार से नहीं होती। हम उनके प्रति तो सौजन्यवान होते ही हैं, क्योंकि हमें नौकरी जाने का डर होता है, 'सी. आर.' खराब होने का भय लगा रहता है। हमारे सौजन्य की परख वहाँ होती है, जब हम ऐसे लोगों से व्यवहार करते हैं, जिनसे हमें लेना-देना कुछ नहीं है या जो पद-प्रतिष्ठा में हमसे नीचे हैं।

सौजन्य का विरोधी है अधिकार-मद। अधिकार-मद से आक्रान्त व्यक्ति अपने से ऊपरवालों के लिए तो भीगी बिल्ली बना रहता है, पर अपने से नीचे लोगों के लिए शेर। अधिकार-मद एक विचित्र मानसिकता है, एक नशा है, जो मनुष्य की मानवता को दबा देती है और उसके सौजन्य को प्रकट नहीं होने देती। ऐसा व्यक्ति अपनी हेठी से भले ही आत्मसुख का अनुभव करे, पर वह विकृत आत्मसुख है और लोगों की नजरों में वह गिरा हुआ है। ❑

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(पचासवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ/मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में श्रीरामकृष्ण योगाद्यान मठ, काकुड़गाछी, कलकत्ता में "श्रीरामकृष्ण-कथामृत" पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर "श्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग" के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहें हैं। हिन्दी रूपान्तरकार है श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

श्रीरामकृष्ण का गुरु व अवतार भाव

डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार श्रीरामकृष्ण के प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे। किन्तु वे अपने पुराने दृढ़ संस्कारों को भूल नहीं पा रहे हैं। इसीलिए वे सोचते हैं कि दूसरों के साथ व्यवहार करते समय श्रीरामकृष्ण को मानवोचित मर्यादा का ध्यान रखकर ही चलना उचित होगा। श्रीरामकृष्ण द्वारा भाव के आवेश में लोगों के शरीर पर पाँव रख देना डॉक्टर की दृष्टि में बड़ा अशोभनीय है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "मैं तो जान-बूझकर किसी के शरीर पर पाँव नही रखता। कुछ ख्याल नहीं रहता। बाद में इसके लिए दुःख होता है।" यह सुनकर डॉक्टर कहते हैं, " ये मानते हैं दुःख होता है, अतः यह स्वीकार किया गया कि यह कार्य अनुचित है।"

गिरीश एवं नरेन्द्रनाथ उन्हें समझाते हैं कि अनुचित हुआ है यह सोचकर वे दुःख नहीं करते। 'दुःख' इसलिए है कि ऐसा करने पर देह (यन्त्र) में अनेक तरह के रोग प्रकट होते हैं। इसलिए जीव के कल्याण के लिये, पाँव रखने से हो या जैसे भी हो, जीव को स्पर्श करने से इन्हें दुःख नहीं होता। ये जगन्माता के हाथ के यन्त्र के रूप में कार्य करते हैं, स्वयं का कर्तृत्वबोध या गुरुभाव इनमें नहीं है।

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से समझने योग्य बात है। वे कई बार कहते, " गुरु, स्वामी, बाबा इन तीन बातों से मेरे शरीर में काँटा

चुभता है।" उन्होंने कभी भी गुरुपद ग्रहण नहीं किया। कहते, ''एक सच्चिदानन्द ही गुरु हैं।" किन्तु उनके समान महान गुरु और कौन है ? उन्होंने सबका अज्ञान-दु:ख दूर करने के लिए, सबको भवसमुद्र से पार करने के लिए प्राणार्पण किया है। जीवन के अन्तिम क्षण तक को उन्होंने इसी कार्य में लगाया है, कोई कृपणता नहीं की। परन्तु इतना सब जो हुआ, वह 'मैंने किया है' – इस भाव से नहीं किया। उन्होंने जगन्माता के यन्त्र के रूप में कार्य किया। यह विचारणीय बात है। उनके भीतर एक ओर विनय और दूसरी ओर गुरुभाव – इन दोनों का ऐसा अपूर्व सह-अस्तित्व है कि साधारण मनुष्य इस पर विभ्रान्त हो जाता है।

लीलाप्रसंग में इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है। श्रीरामकृष्ण के पार्षदों ने जब उन्हें सबके सामने जगद्‌गुरु के रूप में स्थापित किया, तब अनेक लोगों के मन में उसकी जो प्रतिक्रिया हुई कि जो विनय की प्रतिमूर्ति हैं, उन्हें जगद्‌गुरु की कोटि में डालना मानो भक्तों की गुरुभक्ति का अतिरेक है। वस्तुत: उनका अति विनीत भाव जैसा सत्य है, वैसा ही कभी कभी भक्तों के समक्ष अपने को जगद्‌गुरु के रूप में प्रगट करना भी सत्य है। ये दोनों भाव एक ही आधार में कैसे सम्भव हैं, यह लीलाप्रसंग में समझाया गया है।

जगद्‌गुरु के रूप में वे कहते हैं, ''तुम लोगों को चैतन्य हो। तुम लोग क्या माँगते हो ?'' इसका तात्पर्य है कि वे यहाँ पर व्यक्ति के रूप में नहीं, ईश्वर के रूप में बोल रहे हैं, मानो जो जो कुछ चाहता है, उसे वे देने के लिए प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद में अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् कहती हैं – **''अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम''** (देवीसूक्त-३) – ''मैं जगत की ईश्वरी हूँ, जो जो सम्पद चाहता है, वह उसे देती हूँ।'' यह बात जब वे कहती हैं, तब फिर वे ऋषि कन्या नहीं, स्वयं जगदीश्वरी हैं। ऋषि वामदेव के सम्बन्ध में भी शास्त्र में इस प्रश्न पर चर्चा हुई है। वामदेव कहते हैं, ''**अहंमनुरभवं सूर्यश्च**''- मै मनु हो गया हूँ, मैं सूर्य हो गया हूँ। यह मैं कौन है? निश्चय ही ऋषि वामदेव नहीं। क्योंकि वामदेव के जन्म के बहुत पहले ही सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारे तथा मनु का अविर्भाव हो चुका है। वामदेव का तात्पर्य यह है कि 'मैं' उनके शरीर में सीमित नहीं है, वह उनके ईश्वरबोध का 'मैं' है, जो सर्वभूत में, जीवरूप में आविर्भूत है।

श्रीरामकृष्ण जब दीनातिदीन रूप में व्यवहार करते हैं, तब वे

श्रीरामकृष्ण के रूप में हैं। और जब कहते, ''तुम लोगों को चैतन्य हो, तुम लोग क्या माँगते हो?''– मानो जो भी माँगो देने में समर्थ हैं, यह बात वे ईश्वरबोध से कहते हैं। ये दोनों भाव एक ही आधार में कैसे सम्भव हैं, यह बात वे ही समझ सकेंगे, जिन्होंने किसी लोकोत्तर पुरुष का दर्शन किया है। जैसा कि भगवान ने गीता में कहा है - मेरे और तुम्हारे पूर्व में अनेक जन्म हो चुके हैं। जीवों के कल्याण के लिए उनका अनेक बार अनेक रूपों में आविभवि होता है। किन्तु यह आविर्भूत रूप सीमित होता है। इस रूप की उत्पत्ति है, अतएव इसका नाश भी है, यह नित्यरूप नहीं है। किन्तु उस अनित्य रूप के पीछे एक नित्यरूप भी है। कभी तो वे उस नित्य स्वरूप में 'मैं' बोध करते हुए बोलते हैं और कभी अनित्य स्वरूप में।

अवतार तत्त्व

जीवों के कल्याण के लिए भगवान को बार बार आना पड़ा है। श्रीरामकृष्ण भी कहते हैं, अवतार की मुक्ति नहीं है। अनेक बार आना पड़ा है और आना पड़ेगा, अन्त नहीं है।'' इसी दृष्टि से श्रीकृष्ण कहते हैं – अनेक बार मेरा जन्म हुआ है। ऐसा नहीं कि दस अवतारों में दस बार जन्म लिया है। कहते हैं– अनेक बार – जब भी धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं स्वयं को सृष्ट करता हूँ।

साथ ही साथ यह भी समझ लेना होगा कि साधारण मनुष्यों की तरह कर्म के द्वारा नियंत्रित होकर, अनेक प्रकार की वासनाओं से प्रेरित होकर भगवान का जन्म नहीं होता। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं, **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः** (४/८) – जो मेरे अलौकिक जन्म और कर्म को जानता है। इस अलौकिक जन्म-कर्म की विशेषता यही है कि यह जीव के समान मायाबद्ध वासनाप्रेरित होकर जन्म नहीं है। वे माया के अधीश्वर जीवों के कल्याण के लिए वासनामुक्त होकर जन्म ग्रहण करते हैं। जीव-कल्याण को यदि वासना माना जाय, तो उन्होंने इसे एक अवलम्बन के रूप में स्वीकार किया है। नहीं तो स्थूलदेह धारण करने में कोई सार्थकता नहीं रह जाती। किन्तु यह स्थूल देहधारण पूर्व-कर्मवश नहीं है, क्योंकि समस्त कर्मों के भीतर भी वे निष्क्रिय हैं। भगवान अर्जुन से यही कहते हैं, मैं सब करते हुए भी कुछ नहीं करता।'' मैं सब करता हूँ – लौकिक दृष्टि से व्यवहार हो रहा है, किन्तु मैं किसी कर्म में लिप्त नहीं हो रहा हूँ, कर्तृत्व

बुद्धि में लिप्त नहीं हो रहा हूँ। इसलिए उनका जन्म और कर्म दोनों ही अलौकिक है । हम साधारण मनुष्य इसे समझ नहीं पाते। इसीलिए भगवान कहते हैं – मेरे सर्वभूत-अधीश्वर परम स्वरूप को न जानकर, मानवदेह धारण करके आया हूँ, इसलिए लोग मेरी अवज्ञा करते हैं।

अवतार-तत्व की इस विशेषता को समझे बिना हम अवतार को नहीं समझ सकते। इस तत्त्व को समझाने की शास्त्र ने बहुत चेष्टा की है, पर हम अपने ज्ञान की अस्पष्टता के कारण उसे नहीं समझ पाते। हम सोचते हैं कि वे भी हमारे ही समान साधारण मनुष्य हैं। जब उनका व्यवहार हमारे ही समान है – जन्म, मृत्यु, रोग, शोक इत्यादि जीवधर्म उनमें दीख रहा है, तब कैसे समझें कि वे सर्व जीवों के अधीश्वर जगन्नियन्ता हैं।

प्रत्येक अवतार के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। अवतार के ये दोनों ही भाव स्वाभाविक हैं – ये कल्पित अथवा अभिनय मात्र नहीं हैं। वे कभी ईश्वरभाव में और कभी जीव भाव में व्यवहार करते हैं। देह-घर में आने से ही दण्डभोग करना पड़ता है। पंचभौतिक देह के फन्दे में पड़कर ब्रह्म को भी रोना पड़ता है। व्यवहार में जीव भाव दीख पड़ता है। अवतारी पुरुष देह धारण करके उसका प्रत्येक व्यवहार स्वीकार करते हैं। भक्ति के अतिरेक में हम सोचते हैं कि अवतार का यह सब मनुष्यभाव उनकी कपटता है, छलना है। अवतार कभी मिथ्याचार नहीं करते। साधारण मनुष्य अविद्या से प्रेरित होकर कर्म के बन्धन में बाध्य होकर जो भोग करता है, भगवान उसे जीव के कल्याण हेतु स्वेच्छया स्वीकार करते हैं। श्रीरामकृष्ण का यह भाव समझना साधारण लोगों के लिए कठिन है।

श्री सीताजी के वियोग में श्री रामचन्द्र जब रोते हैं, तब क्या वह उनकी कपटता है ? क्या वह अभिनय मात्र है ? यदि ऐसा होता तो श्रीराम का चरित्र हमारी दृष्टि से परे चला जाता। वे पुरुषोत्तम नहीं हो पाते। उनका प्रत्येक व्यवहार सत्य है। कभी मायाग्रस्त होकर रोते हैं और कभी राजराजेश्वर के रूप में जिसे जो चाहिए उसे वह वर देने के लिए प्रस्तुत हैं। ये दोनों भाव मिश्रित रहने पर ही हम उन्हें अवतार कहते हैं।

इस भाव को समझना हमारे लिए कठिन है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते थे – नरलीला में विश्वास होना बहुत कठिन है। साढ़े तीन हाथ की देह में भगवान समाये हुए हैं, यह सोचना कठिन है। कल्पना में भगवान की जो मूर्ति हम सोचते हैं, वह लोकोत्तर है। परन्तु जो भगवान हमारे सामने

चल फिर रहे हैं, उन्हें हम कैसे भगवान के रूप में सोचेंगे ? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – भगवान की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति वहीं है जहाँ वे जीवरूप में लीला कर रहे हैं। नररूप में लीला देखकर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है, उनके भूतमहेश्वर रूप की कल्पना नहीं कर पाता। साधना के बहुत ऊँचे स्तर में पहुँचने पर ही इसे समझना सम्भव है। तब वे भूतमहेश्वर, जो सीमा से अतीत हैं, वे ही सीमा के भीतर लीला कर रहे हैं, यह समझ में आता है। सीमा के भीतर असीम की कल्पना कितना कठिन है, यह साधक ही जानते हैं। असीम समुद्र का जल क्या सीमित पात्र में अँट सकता है ? विश्व-संसार में तथा विश्व से बाहर भी जो परिव्याप्त है, वे ही साढ़े तीन हाथ की देह में सीमित होकर आर्विभूत हों, यह कल्पनातीत है।

राजपुत्रों के समान सातों ड्योढ़ियों में अबाध आने-जाने की स्वतन्त्रता के समान सीमा और असीम में जिनकी अबाध गति है, उनको छोड़कर इस बात की धारणा और कोई नहीं कर सकेगा। अवतार की कल्पना करते समय इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना उचित होगा।

भगवान जैसे दोनों अवस्थाओं में दोलायमान होकर स्वच्छन्द विहार कर सकते हैं, वैसे ही साधक भी जब ससीम तथा असीम के बीच समभाव से विचरण करने में समर्थ होता है, तभी वह अवतार को समझ सकता है। अतः महेन्द्रलाल सरकार के लिए श्रीरामकृष्ण का देवभाव न समझ पाना ही स्वाभाविक है। इसीलिए वे भी उनके मानवरूप की विशेषताओं को देखकर मुग्ध हो रहे है। उन्हें आशका है कि देवता के आसन पर बिठाकर ये लोग इतने अच्छे आदमी का दिमाग खराब कर देंगे। इसीलिए कहते हैं, ''भगवान भगवान कहकर इसका दिमाग खा रहे हो।'' उनकी भगवद्-तन्मयता, शिशु के समान पवित्र सरल स्वभाव को देखकर भला कौन मुग्ध नहीं होगा ? महेन्द्रलाल सरकार भी मुग्ध हुए हैं। कहते हैं इतने अपूर्व शिशु को एक देवता की श्रेणी में डालकर बिगाड़ मत डालो। यह सच है कि उनकी बातों में आन्तरिकता है, किन्तु उन्होंने ऐश्वर्य को सीमा के भीतर ही देखा है, उसके बाहर उपलब्धि नहीं हुई है, इसलिए समझ नहीं पा रहे हैं ।

स्वामीजी और गिरीशबाबू का मत

स्वामी विवेकानन्द उनको समझाते हुए कहते हैं, ''ये ईश्वर और मनुष्य के बीच में है।'' स्वामीजी ने जिस समय ये कहा, तब तक सम्भवतः उनका

संशय पूरी तरह गया नहीं था। उनमें जो संशय था वह समझ में आता है। श्रीरामकृष्ण ने अन्तिम दिनों में कहा था – जो राम हुए थे, जो कृष्ण हुए थे, वे ही इस बार रामकृष्ण हुए हैं। पर तुम्हारे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" उसी संशय को दूर करने के लिए स्वामीजी के प्रति श्रीरामकृष्ण की यह अन्तिम काल की वाणी है।

यहाँ पर स्वामीजी विज्ञान का दृष्टान्त देकर समझा रहे है जैसे उद्‌भिज और जीव-जन्तु के बीचोबीच एक अवस्था है, वैसे ही मनुष्य और देवता के बीच एक अवस्था है।

बाद में स्वामीजी ने इस भाव को पार किया था। कहा था, "श्रीरामकृष्ण अपनी एक मुट्ठी धूल से लाखों विवेकानन्द की सृष्टि कर सकते हैं।" वह शक्ति मनुष्य में नहीं होती। हमारे लिए तो विवेकानन्द की ही कल्पना करना कठिन है, फिर जो एक मुट्ठी धूल से लाखों विवेकानन्द बना सकते हैं, उनकी भला क्या कल्पना करेंगे ? स्वामीजी का ऐसा कहना अतिशय गुरुभक्ति मात्र नहीं है, वे अपनी अनुभूति से इस ईश्वरी शक्ति की बात कहते हैं।

गिरीश बाबू ने भक्ति की सहायता से समझा है। इसीलिए वे कहते हैं – जिन्होंने इस संसार समुद्र और सन्देह-सागर से मुझे पार किया, उन्हें ईश्वर छोड़कर और क्या कहूँगा ? विश्वास और भक्ति के द्वारा प्राप्त अनुभूति को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है। उन्होंने युक्ति-तर्क की अवतारणा नहीं की। वे कहते हैं, "श्रीरामकृष्ण स्वयं ईश्वर हैं। हमारे प्रति करुणावश उन्होंने स्वयं को सीमित रूप में प्रकट किया है। वे हमारे बन्धन खोलकर हमारा उद्धार कर रहे हैं, उन्हें ईश्वर नहीं कहेंगे तो किसे कहेंगे ? यही उनका भाव है। असीम किस प्रकार सीमा के भीतर प्रगट हो सकते हैं, यह समझाने की शक्ति हममें नहीं है। और होने पर भी उसके लिए भाषा का प्रयोग करना बुद्धिहीनता है। इसीलिए कहा जाता है – ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति अघटन-घटन-पटीयसी माया है।

आचार्य शंकर और अवतारतत्त्व

आचार्य शंकर के समान घोर अद्वैतवादी ने भी अपने गीताभाष्य में कहा है – मानो ईश्वर ने जन्म लिया है, मानो देहधारण किया है, इसी प्रकार लोक के प्रति अनुग्रह करके वे विराजते हैं। लोक के प्रति उन्होंने अनुग्रह किया है, इसकी हम साक्षात अनुभूति कर रहे है। भागवत में है, ''अज ने

जन्म ग्रहण किया।" अज माने जिसका जन्म न हो, उन्होंने जन्म ग्रहण किया। किस तरह से उनका आस्वादन किया जाय, यह दिखा देने के लिए अनुग्रह करके उन्होंने जन्म ग्रहण किया।

इस लोकानुग्रह का हम आस्वादन कर सकते हैं, किन्तु उनका जन्म कैसे हुआ, यह हमारी बुद्धि के परे की बात है। शास्त्र कहते हैं – **अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्** – तर्क अथवा युक्ति से अतीत वस्तु को तर्क के द्वारा समझने की चेष्टा मत करो। वह तर्क प्रयोग करने का क्षेत्र नहीं है, अतएव हार मानना होगा। वाक्य-मन से अतीत वस्तु को मन-बुद्धि के गोचर करने की इच्छा होने पर भी हम उसे कर नहीं पायेंगे। **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः** – नेत्र, वाणी, मन वहाँ नहीं जा पाते। किन्तु न समझ पाने पर भी, श्रद्धा-भक्ति की सहायता से दृष्टान्त देखकर धारणा कर सकते हैं, यह असम्भव नहीं है। गिरीश की तरह अगाध विश्वास रहने पर विश्वास के प्राबल्य से तत्व की उपलब्धि हो जाती है। विश्वास जब मनुष्य को निःसंशय कर देता है, तब उसे 'जानना' कहा जाता है। ज्ञान वह है जहाँ संशय का कोई अवसर ही नहीं है। वस्तु की उपलब्धि विश्वास के माध्यम से भी हो सकती है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के विश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उपनिषद् कहते हैं- श्रद्धावान बनो। गीता में भगवान कहते हैं, श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् – जो श्रद्धावान हैं, उसे ही ज्ञान प्राप्त होता है।

अवतार पूजा

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – हम इन्हें श्रेष्ठ मानव के रूप में पूजते हैं, जिस मनुष्य की पूजा ईश्वर-पूजा के अनुरूप है। तात्पर्य यह है कि हम किस तरह से ईश्वर पूजा करते हैं ? हमारे लौकिक ज्ञान में जो मानवीय गुण रहने पर हम किसी को पूज्य मानते हैं, उन सब गुणों को अनन्तगुना बढ़ा देने पर, उन्हीं से विभूषित व्यक्ति की ईश्वर रूप में धारणा करते हैं। हमारे अनुभूत गुणों को अनन्तगुना बढ़ाने पर सम्भव है उनके सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत धारणा हो, इसे छोड़कर और कोई उपाय नहीं। स्वामीजी कहते हैं – हम उन्हें मनुष्य मानकर पूजा करते हैं, किन्तु वह मानवत्व ईश्वर के समीपवर्ती है, अर्थात उनके द्वारा ही हम ईश्वर की कल्पना कर सकते हैं – अन्य किसी उपाय से नहीं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मानव का चरमोत्कर्ष – मानवीय गुण जब सीमा लाँघ जायँ, तब उसे 'ईश्वर' कहते हैं। वह ईश्वर

मानव के समीपवर्ती नहीं, मानवत्व की चरम पराकाष्ठा है।

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है – यदि एक गाय ईश्वर के सम्बन्ध में विचार करे, तो वह उसकी एक बड़ी गाय के रूप में ही कल्पना करेगी। इसके अतिरिक्त और कुछ सोच पाना उसके लिए सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त वह और कोई धारणा कैसे कर सकेगी ? **देवोभूत्वा देवं यजेत्** – देवता होकर देवता की उपासना करनी चाहिए। इसका अर्थ क्या है ? देवत्व का चिन्तन करते करते हमारे अन्दर विकास होता है। जितना ही विकास होता है उतना ही हमारे भीतर का आदर्श मानो हमारे समक्ष प्रस्फुटित होता जाता है। ऐसा करते करते जब हमारा विकास आदर्श के साथ मिलकर एक हो जाता है, तो वही अन्तिम बात है।

शंकराचार्य ने व्याख्या की है – उपासक जब उपास्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तो वही उपासना की पराकाष्ठा है, मनुष्य तब देवत्व की श्रेणी में उन्नीत हो जाता है। ईश्वर की उपासना करते करते ईश्वर हो जाता है। मानवता का आवरण खिसक जाने पर वह जो था वही अर्थात ईश्वर हो गया। जीव शिव हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

सच्चा वैराग्य

वेदान्त में जिस प्रकार चूड़ान्त वैराग्य का उपदेश है, उस प्रकार और कहीं भी नहीं है। पर इस वैराग्य का अर्थ शुष्क आत्महत्या नहीं है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है - जगत् को ब्रह्मरूप देखना ; जगत् को हम जिस भाव से देखते हैं, उसे हम जैसा जानते हैं, वह जैसा हमारे सम्मुख प्रतिभात होता है, उसका त्याग करना और उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना। उसे ब्रह्मस्वरूप देखो - वास्तव में वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

-स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (२३ / १)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम में प्रति वर्ष आयोजित होने वाले विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के 'मानसरोग' प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तेईसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के लेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय में अध्यापक हैं। - सं.)

मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या है दुःख। यह दुःख मनुष्य के जीवन में अगणित रूपों में आता है। इस दुःख की व्यापकता को देखते हुए ही गीता में इस संसार को **दुःखालयमशाश्वतम्** (८/१५) कहा गया है। किन्तु व्यक्ति इस दुःख की समस्या का समाधान पाना चाहता है, इसका निराकरण करना चाहता है। अनेक सम्प्रदाय, संस्थाएँ, तथा महापुरुष इस दुःख की समस्या के भिन्न भिन्न समाधान देने का प्रयास करते हैं। रामचरितमानस में रामराज्य रूपी जो अन्तिम लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है, उसकी यही विशेषता बताई गई है कि रामराज्य में कोई दुःखी नहीं है –

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।। ७/२०/६

और उसका स्पष्टीकरण करते हुए यह भी बता दिया गया कि दुःख व्यक्ति के जीवन में किन किन रूपों में आता है। रामराज्य के सन्दर्भ में दुःखों का जो विभाजन किया गया है, वह इस प्रकार है।

कुछ दुःख तो व्यक्ति के जीवन में काल के कारण आते हैं। कालचक्र निरन्तर चलता रहता है। यह काल की प्रकृति है। इस कालचक्र में सुख-दुःख, जय-पराजय आदि का आना अवश्यम्भावी है। कालजन्य दुःख में जो प्रक्रिया दिखाई देती है, उसमें किसी व्यक्ति का हाथ नहीं है। वह किसी व्यक्ति के वश में नहीं है। काल का निर्माता व्यक्ति नहीं है। चाहे तो ईश्वर को ही कालस्वरूप कह लीजिए या कहें कि काल ईश्वर के द्वारा संचालित है। यहीं पर व्यक्ति के पुरुषार्थ की सीमा समाप्त हो जाती है।

दुःख का दूसरा कारण है कर्म। मनुष्य का जीवन इतना ही नहीं है, जितना वर्तमान में दिखाई दे रहा है। मनुष्य तो अगणित काल से विविध रूपों में जन्म लेता आ रहा है और उन जन्मों में उसके द्वारा न जाने कितने कर्म हुए हैं। इनमें कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका परिणाम व्यक्ति तुरन्त पा लेता है; पर कुछ कर्मों के परिणाम ऐसे भी हैं जो तत्काल नहीं मिलते। ऐसे परिणाम व्यक्ति के चित्त में सग्रहित रहते हैं और यह सम्भव है कि जिन कर्मों के परिणाम हमें

पूर्वजन्मों में न मिले हों, वे अब इस जन्म में मिल रहे हैं।

और दुःख का तीसरा कारण है गुण। सृष्टि की जो रचना हुई है, वह मिलावट से हुई है। मिलावटी धातुओं के द्वारा वस्तुओं का निर्माण हुआ है। अब जिसका मूल उत्पादन ही शुद्ध नहीं है, तो उससे निर्मित वस्तु कैसे शुद्ध होगी ? मिलावट, गन्दगी या मलिनता अगर बाहर से आई हुई हो, तब तो उसकी सफाई की जा सकती है, लेकिन मलिनता अगर मूल वस्तु में ही विद्यमान हो, तो उसे किस तरह से दूर करेंगे ? यह जो व्यक्ति का निर्माण हुआ है, इसके लिए मानस में एक शब्द आता है –

बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना ।। १/५/४

यहाँ पर 'साना' शब्द का प्रयोग किया गया है। सानने का अर्थ होता है वस्तुओं को आपस में खूब अच्छी तरह से मिला देना। जैसे मिट्टी में पानी मिलाकर उसे साना जाता है। और तब उस मिट्टी और जल के योग के द्वारा हम जो निर्माण करना चाहते हैं, उसे जो आकार देना चाहते हैं, वह देते हैं। कुम्हार इसी तरह घड़े का निर्माण करता है। इसी तरह ब्रह्मा या ईश्वर ने जब सृष्टि का निर्माण किया, तो सत्व, रज और तम इन तीनों मूल धातुओं को मिलाकर ही सृष्टि का निर्माण किया। और जब तीनों को मिलाकर सृष्टि का निर्माण हुआ तब यह सम्भव नहीं कि कोई वस्तु शुद्ध हो। कितनी भी चेष्टा क्यों न की जाए, सत्व के साथ रज और तम रहेगा ही। इतना अवश्य है कि उनकी मात्रा में भेद हो सकता है। हम सब अपने जीवन में भी देखते हैं कि कभी तो व्यक्ति के अन्तःकरण में बड़े उत्कृष्ट विचार उठते हैं, फिर कभी ऐसी स्थिति भी आती है, जब उसमें पुरुषार्थ की भावना जागृत होती है और कभी उसे थकान आ जाती है, नींद आने लगती है तथा वह सो जाता है। ये जो तीन प्रक्रियाएँ मनुष्य के जीवन में दिखाई देती हैं, ये तीनों त्रिगुण से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार रचना के जो मूल तत्व त्रिगुण हैं, उनके द्वारा भी मनुष्य के जीवन में दुःख आता है।

पर दुःख का जो चौथा कारण है, वह दुःख को घटाने और बढ़ाने का सबसे बड़ा साधन है। व्यक्ति के स्वभाव को गोस्वामीजी दुःख का चौथा कारण बताते हैं। अभिप्राय यह है कि जब कभी काल, कर्म अथवा गुण के द्वारा दुःख की सृष्टि होती है, तब उस दुःख को हम कैसे ग्रहण करते हैं, यह हमारे स्वभाव पर निर्भर करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि अन्ततोगत्वा हम अपने अन्तःकरण की जो वृत्ति बनाए हुए हैं, वह दुःखग्राही है या सुखग्राही ? यह जो मानस-रोग पर चर्चा चल रही है, उसका सूत्र भी यही है।

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२०/१९

दूसरे के सुख को देखकर व्यक्ति के मन में जलन होने लगे, तो वह मानो मन का राजयक्ष्मा है। दूसरे के सुख को देखकर जलन होना, यह तो स्वभाव की बात है, कोई आवश्यकता की बात तो है नहीं। इसमें हानि को छोड़कर लाभ तो रंचमात्र भी नहीं है। लेकिन कुछ लोगों का स्वभाव ऐसा होता है कि बिना कारण के स्वयं ही अपने लिए दुःख-कष्ट की सृष्टि किया करते हैं और साथ ही साथ वे उसे दूसरों में भी वितरित करते रहते हैं। हम सबका यह अनुभव है कि कुछ लोगों से मिलिए तो मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती है, पर कुछ लोग ऐसे होते हैं जो मिलते ही दुखड़ा रोने लगते हैं, थोड़ी देर की बातचीत में ही अपना सारा दुःखड़ा आपके सिर पर उड़ेल देते हैं। ऐसे लोगों से मिलकर बड़ी निराशा होती है। उनकी वृत्ति केवल दुःख संग्रह करने की ही नहीं, वितरण करने की भी होती है।

अब यह जो स्वभावजन्य दुःख है, यह तो हमारा अपना ही बनाया हुआ है, अतः इसका समाधान हमारे अपने हाथ में है। हम अपने स्वभाव को अगर बदल सकें, तो न केवल ये त्रिविध दुःख कम हो सकते हैं, अपितु इन्हें सुख में भी बदला जा सकता है। यदि हम सच्चे अर्थों में स्वभाव के निर्माण की प्रक्रिया को जान लें और अपने स्वभाव को परिवर्तित कर सकें, तो काल, कर्म और गुण से उत्पन्न होने वाले दुःखों से हम उस तरह प्रभावित नहीं होंगे, जिस तरह कि साधारण व्यक्ति हु आ करते हैं।

इस स्वभावजन्य दुःख को सुख में बदलने की चेष्टा हम कैसे करें ? इसके लिए रामायण में एक बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। वह यह कि दुःख लोहे की तरह है, लेकिन जो इस लोहे को सोने के रूप में परिणत करना जानता है उसके लिए लोहा भी बहुमूल्य हो जाता है। दुःख का लोहा सुख के सोने के रूप में बदल सके इसकी प्रक्रिया क्या है ? रामायण में एक बड़ी सुन्दर पंक्ति आती है –

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें।
तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें ।। ७/१११/१

यहाँ पर एक सूत्र दे दिया गया – जो व्यक्ति सबका हित चाहता है, सबकी उन्नति चाहता है, जो दूसरों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील है, उस व्यक्ति के जीवन में भला दुःख कैसे हो सकता है ? जिसके पास पारस है उसके पास लोहा लोहा नहीं है, वह तो लोहे को सोना बना लेता है। इसका तात्पर्य क्या है ? इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि भाई, जो दूसरों के दुख से दुखी होता

है, वह स्वाभाविक रूप से ही दूसरों के सुख से सुखी होगा। जहाँ ऐसी वृति होगी, वहाँ स्वयं का कोई सुख-दुख होगा नहीं। जिस व्यक्ति का स्व इतना फैल गया हो, उसके जीवन में भला व्यक्तिगत सुख-दुख का क्या स्थान हो सकता है ?

अभी जिस पंक्ति की चर्चा चल रही थी – पर सुख देखि जरनि सोइ छई – यहाँ पर 'सुख' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि हममें से अधिकांश लोगों ने जीवन में एक विभाजन कर लिया है। और वह विभाजन है अपने-पराये का। स्व और पर। और हमारे सुख दुःख की परिभाषा क्या है ? जिसके साथ हमारा अपनापन जुड़ा हुआ है, उनके सुख से, उनकी उन्नति से हमें प्रसन्नता होती है और जिनके साथ हमारा अपनापन नहीं जुड़ा है, जिनको हम पराया समझ बैठे हैं, उन व्यक्तियों के सुख और उन्नति से हम प्रसन्न नहीं होते, अपितु ईर्ष्या होती है, दुख होता है। अब इस दुःख के निराकरण का क्या उपाय है? यह तो मनुष्य की स्वयं की वृत्ति है। वह अपने स्व को धीरे धीरे इतना संकुचित करता चला जाता है कि अन्त में अपने आप में सिमट कर रह जाता है। विश्‍व में अपने देश का स्व, देश में प्रान्त का स्व, प्रान्त में जिले का, जिले में नगर का, नगर में जाति, जाति में परिवार और परिवार में भी उसका अपना स्व। इस तरह वह अपने स्व को अत्यन्त क्षुद्र बना लेता है। ज्यों त्यों व्यक्ति का स्व क्षुद्र होता जायगा, त्यों त्यों उसके जीवन में दुःख की मात्रा बढ़ती जायेगी। और जिस व्यक्ति के जीवन में उसके स्व का जितना ही अधिक विस्तार है, वह उतना ही अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उंठ जाता है। वह दूसरों के सुख और उन्नति में ही अपना सुख तथा उन्नति अनुभव करता है और प्रसन्न होता है। उसके स्व के विस्तार के कारण उसे दूसरों की उन्नति में भी उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी अपना कहे जाने वाले व्यक्ति की उन्नति में होती है। इसलिये गोस्वामीजी ने रामायण में जो एक बात कही, वह बड़े महत्व की है। उन्होंने कहा –

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।। १/११३/९

और यहाँ पर जो कहा –

कबहुँ कि दुख सबकर हित ताकें ।
तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें ।। ७/१११/१

ये दोनों पंक्तियां परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की रचना क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर रामचरितमानस में दो तरह से मिलता

है और उन दोनों को पढ़कर लगता है कि ये तो परस्पर विरोधी बाते हैं। एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं –

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।। १/११३/९

– कविता, कीर्ति और सम्पत्ति वही कल्याणकारी है, जो गंगा के समान सब का हित करे। एक कीर्ति वह है जो केवल व्यक्ति को ही चमकाती है, अन्य लोगों की दृष्टि में एक व्यक्ति को उठा देती है। इसको यों कहें कि जैसे प्रकाश के दो रूप होते है। एक तो वह कि जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं चमके और दूसरा वह जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरों को प्रकाश दे। इसको गोस्वामीजी ने दृष्टान्त के रूप में कहा कि चमकने के लिए तो जुगनू भी चमकता है। भगवान राम बड़ी व्यंग्यभरी भाषा में कहते हैं– देख नहीं रहे हो, चमकनेवालों की कितनी बड़ी संख्या है ? और वे चमकने वाले कौन हैं ?

निसि तम घन खद्योत बिराजा ।
जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा ।। ५/१४/९

वर्षा की रात्रि, आकाश में चारों ओर काले बादल छाये हुए थे। भगवान श्रीराम ने तीन शब्द कहे – निसि, तम और घन। निसि माने ? जहाँ सूर्य नहीं है। तम माने जहाँ चन्द्रमा नहीं है और घन माने तारे भी नहीं हैं। अब विराजमान कौन है ? खद्योत, जुगनू। जुगनू भी प्रकाश का प्रतीक है। क्योंकि अन्य जन्तुओं में चमक नहीं है और जुगनू में है। लेकिन विडम्बना यह है कि उसमें चमक तो है, लेकिन वह गहरे अन्धकार में ही व्यक्त होता है। इसलिए जुगनू की मनोवृत्ति क्या है ? एक बार ब्रह्मा ने जुगनू से पूछा कि तुम क्या चाहते हो ? तो उसने यही वर माँगा कि पहले सूर्य को अस्त कर दीजिये। सूर्य अस्त हो गया। रात्रि हो गई तो चन्द्रमा चमकने लगा। जुगनू ने दूसरी माँग की कि चन्द्रमा भी अस्त हो जाये। रात भी रहे, तो अँधेरी रात हो। अब सूर्य भी नहीं, चन्द्रमा भी नहीं, पर आकाश में चमकनेवाले अभी भी बहुत हैं। जुगनू को उनसे भी बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने ब्रह्मा से प्रार्थना की, ऐसा बादल छा जाये कि ये तारे भी न दिखाई दें। क्यों ? यही जुगनू की मनोवृत्ति है कि जब कोई नहीं दिखाई देगा, तब हम दिखाई देंगे।

निसि तम घन खद्योत बिराजा । ५/१४/६

भगवान राम का यह शब्द बड़ा सांकेतिक है। इसका अभिप्राय यह है कि जब किसी की कीर्ति प्रकाशित होती है, (कीर्ति की तुलना प्रकाश से की जाती है) तो वह निरन्तर यही चाहता है कि संसार में और सारे प्रकाश समाप्त हो

जायें और केवल मैं चमकता रहूँ । वह नहीं चाहता कि किसी और की चमक बढ़े, क्योंकि उस चमक में मेरा महत्त्व, मेरी महिमा कम हो जायेगी। मानस में गोस्वामीजी कहते हैं कि कीर्ति का उद्देश्य अपने आपको चमकाना नहीं, बल्कि दूसरों को प्रकाश देना होना चाहिए। और इसी तरह कविता की व्याख्या करते हैं कि कविता का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? कविता का उद्देश्य होना चाहिये, विश्व का हित। एक कवि यदि अपने काव्य का कौशल प्रदर्शित करके अपने को प्रतिष्ठित करना चाहता है, महिमा से मण्डित होना चाहता है, तो उस कविता के द्वारा कवि कीर्ति भले ही अर्जित कर ले, पर उस कविता के द्वारा उसके जीवन में कोई लाभ नहीं होगा। कविता का उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि उससे दूसरे लोगों को भी प्रेरणा प्राप्त हो। जो कविता समाज का हित करे वही कविता है। इसी तरह गोस्वामीजी कहते हैं कि सम्पत्ति वह नहीं, जो अपने पास या बैंक के अपने खाते में जमा हो। सम्पत्ति तो वही है जिसका प्रयोग संसार के कल्याण के लिये, लोगों के कल्याण के लिए, जनसेवा के लिए हो।

गोस्वामीजी ने कहा कि इन तीनों वस्तुओं की श्रेष्ठता की एक ही कसौटी है कि उस वस्तु के द्वारा किसी एक व्यक्ति का हित होता है या सबका हित होता है। इसीलिए उन्होंने इसके सन्दर्भ में गंगा का दृष्टान्त दिया। गंगाजी की विलक्षणता यह है कि वे ऊपर से उतरकर नीचे आती हैं, पर उस नीचे आने का उद्देश्य क्या है ? जब गंगा ब्रह्मा के कमण्डलु में थी, तब वे देवलोक में, ब्रह्मलोक में थी। लेकिन वे देवलोक से उतरकर मृत्युलोक में कैलाश पर्वत पर आ गईं, फिर उतरकर हिमालय की चोटियों पर आ गईं और वहाँ से ऊतरकर पृथ्वी पर आ गईं। इसके बाद पृथ्वी पर बहती हुई वे समुद्र की ओर जा रही हैं। इन सबके पीछे उनका क्या उद्देश्य है ? गंगाजी अगर अपने आपको दुर्लभ बनाए रखना चाहती, तो वे ब्रह्मा के कमण्डलु में ही रह जाती। लेकिन जब वे ब्रह्मा के कमण्डलु से निकलकर, देवलोक का परित्याग कर मृत्युलोक में आती हैं, तो इसके पीछे उनका उद्देश्य यही है कि वे पापियों का उद्धार करने के लिए आती हैं, लोककल्याण के लिए अपने आपको नीचे उतारकर सबकी सेवा में लगा देती है। यही गंगाजी के अवतरण का उद्देश्य और उनका सबसे बड़ा गौरव है। गोस्वामीजी कहते हैं कि गगा का यही जीवनदर्शन हमारे लिए जीवन का आधार होना चाहिए। इसीलिए जहाँ पर गंगा की महिमा बतायी गयी है, वहाँ पर एक सांकेतिक सूत्र भी दिया गया है। गंगा के किनारे जितने गाँव और नगर हैं, वे सभी तीर्थ हैं। लेकिन इनमें

तीन तीर्थों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है और वे बड़े महत्व के हैं। हरिद्वारे प्रयागेच गंगासागर संगमे – गंगा के किनारे हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर ये तीन सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हैं। ऐसा कहकर अन्य तीर्थों की निन्दा नहीं की गयी है, बल्कि इन तीनों का चुनाव बड़े सांकेतिक रूप से किया गया है, क्योंकि गंगा हमारे लिए केवल एक नदी नहीं, अपितु हमारे समस्त धर्म और संस्कृति का जो तत्व है, हमारे जीवनदर्शन का जो तत्त्व है, उन सबको हमारे ऋषियों ने, उन्हीं के माध्यम से पुराणों में व्यक्त किया है। उसमें जो तीन स्थानों का प्रतीक चुना गया है, वह बड़े महत्व का है। पहला स्थान चुना गया हरिद्वार को। एक सज्जन ने कहा कि ऋषि-मुनि बड़े कुशल वर्णनकर्ता थे। उन्होंने एक प्रकार से भौगोलिक वर्णन किया – हरिद्वार से प्रारम्भ, प्रयाग मध्य और गंगासागर में समुद्रमिलन समाप्ति। पर तत्त्वतः यह ठीक नहीं है क्योंकि गंगा का उद्‌भव हरिद्वार से नहीं हुआ है। गंगा तो गंगोत्री से निकलती हैं। ऐसी स्थिति में इस श्लोक में यह कहना चाहिए था कि गंगा का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ गंगोत्री है। लेकिन गंगोत्री का महत्व अधिक है या हरिद्वार का ? वैसे तो जो लोग गंगोत्री की यात्रा करके आते हैं, उनको बड़ी धन्यता और गौरव की अनुभूति होती है। उसकी तुलना में हरिद्वार जाना सरल है, पर पुराणों या ऋषियों ने बड़ी अनोखी बात कही। उन्होंने गंगोत्री को बहुत कम महत्व दिया और हरिद्वार को बड़ा बता दिया। क्यों ? उन्होंने कहा कि दोनों में यह अन्तर है कि गगा को गंगोत्री में पाने के लिए बड़ा कठिन परिश्रम करना पड़ता है। बड़ी कठिनाई से उपर चढ़ने पर वे प्राप्त होती हैं। लेकिन हरिद्वार में यह विशेषता है कि वहाँ गंगा स्वयं नीचे उतरकर आ जाती है और व्यक्ति को सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु मनुष्य की एक बड़ी विचित्र भावना है कि जो वस्तु उसे कठिनाई से मिलती है उसी को वह अधिक महत्व देता है। इसीलिए जिस तीर्थ की यात्रा जितनी ही कठिन है, उसे व्यक्ति उतना ही महत्व देता है और जिसकी यात्रा जितनी ही सुलभ है, उसे उतना ही कम महत्वपूर्ण मानता है। लेकिन शास्त्रकारों ने कहा कि जिनमें सामर्थ्य हो वे गंगोत्री जाकर गंगा स्नान करें और धन्यता तथा गौरव की अनुभूति करें। पर गंगा का पहला तत्व हरिद्वार है अर्थात जहाँ उनकी सुलभता का सुख है।

इस प्रकार कविता भी हिमालय की तरह दुर्गम नहीं होनी चाहिए। वह कविता जिसे केवल कवि ही समझें; कभी कभी तो स्वयं कवि भी नहीं समझ पाते कि वे क्या कह रहे हैं और बेचारे सुननेवाले भी समझने के लिए व्यर्थ परिश्रम करते रहें, फिर भी कुछ रहस्य पल्ले न पड़े। काव्य की विशेषता यह

होनी चाहिए की वह ऊपर से नीचे उतरे। कीर्ति की विशेषता भी यही होनी चाहिए कि वह सुलभ हो और सम्पत्ति की भी विशेषता यही हो कि वह तिजोरी में बन्द न रहे, बल्कि हरिद्वार की भूमि में उतरकर समाज की सेवा में उसका उपयोग हो। इस तरह हरिद्वार सुलभता का प्रतीक है।

इसके बाद है प्रयाग। बड़ा अनोखा संकेत है। प्रयाग में गंगा और यमुना का संगम होता है। और कैसा सुन्दर मिलन ? गंगा बाँहें फैलाकर यमुना को अपने में समेट लेती हैं। यमुना देखने में साँवली है। लेकिन वहाँ पर अपने को समेटकर, अपना रूप दे देने में, अपना नाम दे देने में, इस तरह धन्य बना देने में मानो समन्वय का सूत्र है। गंगा-यमुना का संगम समन्वय का सूत्र देता है। पहला सूत्र है सुलभता और दूसरा सूत्र है समन्वय। गंगा सुलभ बनी और यमुना ने समन्वय को स्वीकार करते हुए गंगा में अपने आपको विलीन कर दिया। कोई कह सकता है कि गंगा तो पूरी स्वार्थी निकलीं। बेचारी यमुना की पहले एक अलग पहचान तो थी। गंगा ने उसे अपने में विलीन कर लिया, तो उसका नाम भी विलीन हो गया और रूप भी। इस विलय के बाद सब उन्हें गंगा ही तो कहते हैं, यमुना कौन कहता है ? बेचारी यमुना तो घाटे में रहीं। लेकिन आप जरा विचार करके देखिए कि यमुना को अपने आप में लीन करने के बाद गंगा ने क्या किया ? क्या वे प्रयाग में ही रुक गईं ? नहीं, वे आगे बढ़ती जा रही हैं। कहाँ जा रही हैं? समुद्र में अपने आपको विलीन कर देने के लिए।

तीसरा तीर्थ गंगासागर यही समर्पण का तत्व है। और इसका अभिप्राय है कि सुलभता और समन्वय के पश्चात जैसे गंगा अपने आपको समुद्र में विलीन करके, नाम और रूप को खोकर अपने व्यक्तित्व से पृथक हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार अपनी कीर्ति के द्वारा, अपनी सम्पत्ति के द्वारा, कविता के द्वारा लोगों के लिए सुलभ बनकर, समन्वय के द्वारा सबको अपने में आत्मसात कर अन्त में स्वयं को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना, अपना विलय कर देना – यही मानो गंगा का गंगासागर में विलीन हो जाना हैं।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने काव्य की परिभाषा देते हुए एक सूत्र दिया– वही कविता है, वही सम्पत्ति और वही कीर्ति है जो सबका हित करती है। लेकिन एक अन्य पंक्ति में उन्होंने एक दूसरी ही बात कह दी, जो पढ़ने में बड़ी अटपटी लगती है। दोनों परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। जब वे रामचरितमानस लिखने लगे तो किसी ने पूछ दिया कि आप इतना परिश्रम क्यों कर रहे हैं ? उन्होंने कहा –

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।। श्लोकः १।६

– मैं तो अपने अन्तःकरण को सुख देने के लिए लिख रहा हूँ। अब दोनों बातें तो परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। पढ़कर भ्रम होता है कि गोस्वामीजी की रचना अपने सुख के लिए है या सबके हित के लिए ? पर यही तो जीवनदर्शन का सूत्र है। क्या ? स्व और सब का भेद मिट जाना। गोस्वामीजी के जीवन में जब स्व और सब का भेद मिट गया, तब वे कहीं पर 'सब कर हित' लिखते हैं और कहीं पर 'स्वान्तः सुखाय'। इन पक्तियों को पढ़कर हमें भ्रम इसलिए होता है कि हमारे जीवन में यह स्व और सब का भेद बना हुआ है। और यह भेद केवल भेद ही नहीं बल्कि हमारे स्व और सब परस्पर विरोधी हो गये हैं। हमारे स्व के स्वार्थ, इच्छाओं और दूसरों के स्वार्थ एवं इच्छाओं के बीच परस्पर टकराहट हो रही है। हमें यही चिन्ता बनी रहती है कि सुख सुविधाओं के बँटवारे में कहीं हम घाटे में न रह जायें। दूसरे लोग कहीं अधिक लाभ न ले लें। हमारा स्व और सब एक दूसरे के विरोधी हो गये हैं। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक न होकर एक दूसरे से पृथक हो गये हैं। हम चाहते हैं कि हम दूसरों से अधिक से अधिक लाभ ले लें और हमें कम से कम देना पड़े, या फिर देना ही न पड़े।

गोस्वामीजी ने कहा कि लोग ऐसा सौदा करना चाहते हैं जिसे उन्हें विनय-पत्रिका में नाम दिया– ''हाथी स्वान लेवा देही।'' एक व्यक्ति को हाथी खरीदने की इच्छा हुई। उसके पास एक कुत्ता था। उसने सोचा कि कोई ऐसा मूर्ख मिल जाय जो इस कुत्ते के बदले में अपना हाथी दे दे, तो हम उससे सौदा कर लें। एक हाथीवाला मिला, पर वह उससे भी कई गुना चालाक था। जब इसने कुत्ते के बदले हाथी माँगा तो वह राजी हो गया उसने कुत्ता लेकर उसे एक कागज का हाथी दे दिया, जो कुत्ते से भी कम मूल्य का था। और साथ ही उसने यह कह दिया– ले! तू भी याद रखेगा कि कैसे आदमी से पाला पड़ा था ! यह जो 'हाथी-स्वान की लेवा-देही' है, परस्पर एक दूसरे को ठग लेने की, अधिक से अधिक छीन लेने की वृत्ति है, यह स्व और समाज का संघर्ष है और गोस्वामीजी के जीवन में यह मिट चुका है। गोस्वामीजी का स्वान्तः सुखाय कहने का अभिप्राय क्या है ? जब सच्चे अर्थों में स्व और सबका भेद मिट जायगा, विरोध मिट जायगा, जब स्व का सुख सबका हित और सबका हित स्व का सुख हो जायेगा, तब जीवन में समग्रता आएगी। यही रामायण का जीवन दर्शन है। अभिप्राय यह है कि जब हम दूसरों के हित में अपना हित मानते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को सुखी देखकर हमें प्रसन्नता होती है, तब सबका सुख हमारा और हमारा सुख सबका बन जाता है। हमारे

स्व का इतना विस्तार हो जाता है कि सब हमारे अपने लगने लगते हैं और इससे हमारे सुख का विस्तार होता है और हम निरन्तर दूसरों को सुख पाते हुए देखकर प्रसन्न होते हैं। तब लगता है कि यह जो सबकी उन्नति है, विजय है, सुख है, वह सब मेरा ही है, मुझे ही प्राप्त हो रहा है, वह सबमें अपने को ही देखने लगता है। जिनको भी मिल रहा है, जो भी मिल रहा है, वे सब किसी न किसी रूप में हमारे स्व से जुड़े हुए हैं। आदर्श तो यही है, पर व्यक्ति ने इसके विपरीत अपने स्व को धीरे धीरे समेट लिया है, संकुचित कर क्षुद्र बना लिया है, अपने आप में सिमटकर समाज से अलग हो गया है और इस कारण वह अपने आपको नितान्त अकेला और असहाय अनुभव करता है। इसीलिए वह निरन्तर अपने स्व के सुख के लिए दूसरों से छीनने की चेष्टा करता है, अपने अहं की तुष्टि के लिए दूसरों के अहं से टकराता है। दूसरों का सुख उसे नहीं सुहाता क्योंकि वह सब सुख अपने लिए चाहता है। उसमें किसी की भागीदारी उसे सहन नहीं होती। और इसका परिणाम क्या होता है ? या तो समाज में परस्पर संघर्ष हो रहा है या ऐसा सौदा हो रहा है कि जिसमें व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे को ठगने की कोशिश कर रहे हैं, एक दूसरे को दोष दे रहे हैं, एक दूसरे की निन्दा कर रहे हैं। इस स्थिति का रामचरितमानस में बड़े सांकेतिक रूप में विश्लेषण किया गया है।

दु:ख भगवान राम के जीवन में भी आते हैं, भगवान कृष्ण के जीवन में भी आते हैं, महापुरुषों के जीवन में भी आते हैं। भगवान श्रीरामकृष्णदेव की जीवनी पढ़िये तो उनके जीवन में भी पीड़ा का पक्ष है। लेकिन उस दुख और पीड़ा के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि कौन सी है, बस यही बड़े महत्व की बात है। विभिन्न रूपों में आए हुए दुख तो हैं, लेकिन उन दुखों को हम अपने जीवन में कैसे स्वीकार करें या हमारे पास वह कौन सी कला है, जिससे हम अपने जीवन में आये हुए दुखों को सुखों में बदल दें; अथवा वह कौन सा पारस है हमारे पास, जिसके स्पर्श से दु:खरूपी लोहा सुखरूपी सोना हो जाय ? गोस्वामीजी कहते हैं –

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें ।
तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें ॥७ /१११/१

जिसने सबके हित में अपना हित मान लिया है, उसे क्या कभी दुःख हो सकता है? अपने स्व का विस्तार करके सबमें अपने को ही देखिये। और तब मानो पारस के स्पर्श से दुखरूपी लोहा भी व्यक्ति के जीवन में सुखरूपी सोना हो जाता है। यह संकेत अयोध्याकाण्ड में मिलता है। (शेष आगामी अंक में)

बलराम-चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से कुछ पौराणिक हैं और कुछ ऐतिहासिक। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें 'दशावतार-चरित' नाम से एक पुस्तिका के रूप में लिखा था, जिसका अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। -सं.)

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभं
हलहति-भीति-मिलित-यमुनाभम्।
केशव धृत-हलधर रूप
जय जगदीश हरे ।।

\- १ -

इस जगत में कुछ भी अधिक दिन नहीं चलता। रामराज्य भी कुछ काल के बाद स्वप्रराज में परिणत हुआ। राजागण स्वेच्छाचारी हो गए। वे आपस में लड़-झगड़कर प्रजा का सर्वनाश करने लगे। शास्त्र के नियम उठ गए और उनका स्थान विभिन्न प्रकार के कुत्सित लोकाचारों ने ले लिया। लोग अन्धे के समान उन सब नियमों का पालन कर अधःपतित होने लगे; बड़े बड़े पण्डित तथा धार्मिक जन भी उन नियमों के हाथ से नहीं बच सके। समाज में, परिवार में और धर्म में मनुष्य को कोई स्वाधीनता नहीं रह गई।

युधिष्ठिर के समान धार्मिक व्यक्ति ने भी जुए के खेल में अपने भाई तथा पत्नी को धन-दौलत के समान दाँव पर लगा दिया था। भरी सभा में द्रौपदी के चीरहरण का प्रयास हुआ। भीष्म, द्रोण, भीम, अर्जुन कोई भी प्रतिवाद करने का साहस नही दिखा सका, जबकि वे भारतविख्यात वीर पुरुष थे। यदुवंशियों ने नशे की हालत में एक-दूसरे का वध कर डाला। इन सारी घटनाओ के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि समाज कितने परिमाण में दुर्नीतियों का शिकार हो चुका था।

मनुष्य को शान्ति का पथ दिखाने के लिए इस बार श्रीहरि ने राम और कृष्ण रूप धारण किया। परन्तु केवल बलराम को ही अवतार कहा जाता है, श्रीकृष्ण की दशावतारों में गणना नहीं होती। यद्यपि दोनों की लीला अभेद है, तथापि हम यथासाध्य प्रचलित मत का ही अनुसरण करेंगे।

– २ –

भोजवंशीय अभिजित राजा के पुत्र आहुक बड़े प्रतापवान राजा थे। उनके दो पुत्र थे देवक और उग्रसेन। राम तथा कृष्ण की माता देवकी देवक की पुत्री थीं। यदुवंशीय वसुदेव के साथ देवकी का विवाह हुआ। अग्रसेन का पुत्र कंस अपने पिता को बन्दी बनाकर स्वयं राजा हो गया। उसके दुराचार एवं अत्याचार से सभी त्रस्त थे। देवकी के विवाह के समय देववाणी हुई कि उनकी आंठवीं सन्तान कंस का वध करेगी। कंस यह सुनते ही देवकी का वध करने को उद्यत हुआ। वसुदेव ने बड़ी कठिनाई से उसे इस हत्या से विरत किया और उसके सामने प्रतिज्ञा की कि देवकी के गर्भ से जन्मी प्रत्येक सन्तान वे कंस के हाथों सौंपते जाएँगे। इसके बादजूद कंस ने अपनी बहन तथा बहनोई को कारागार में बन्द करके रख दिया।

वसुदेव की रोहिणी नाम की और भी एक पत्नी थी; वसुदेव कारागार में थे, अतः रोहिणी असहाय होकर अपने मित्र नन्दगोप के यहाँ ब्रज में निवास करने लगीं। देवकी के गर्भ से एक एक कर छह सन्तानों ने जन्म लिया। कंस प्रत्येक नवजात शिशु की हत्या करता गया। सप्तम गर्भ की सन्तान दैवी उपाय से रोहिणी के पास पहुँच गयी। सबको लगा कि सातवें मास देवकी का गर्भ नष्ट हो गया है। उसी से ये तीसरे राम उत्पन्न हुए। देवकी के अष्टम गर्भ से श्रीकृष्ण ने जन्म लिया। वसुदेव ने बड़ी कुशलता से नन्द-पत्नी यशोदा की नवजात कन्या के साथ श्रीकृष्ण को बदल दिया। कंस ने उसी कन्या की हत्या करने के बाद अपनी बहन तथा बहनोई को मुक्त कर दिया।

राम और कृष्ण नन्द की सन्तानों के रूप में पलने लगे। शैशवकाल से ही उनके चरित्र में असाधारण विशेषताएँ व्यक्त होने लगी थीं। कृष्ण का रंग साँवला और राम का वर्ण गोरा था। देखने में अत्यन्त सुन्दर, अदम्य बलशाली और बुद्धि-व्यवहार में विज्ञ होने के कारण गोप-गोपिकाएँ उन्हें अपनी सन्तानों से भी अधिक स्नेह करती थीं। व्रज के ग्वाल-बाल उन्हें छोड़कर क्षण भर भी नहीं रह पाते थे। गाय चराते समय वे नित्य नये खेल तथा मनोरंजन के उपाय निकालकर गोप-बालकों को आनन्दित करते थे। वन में विभिन्न प्रकार के हिंसक जन्तु थे, राम-कृष्ण ने उनका संहारकर व्रजभूमि को निरापद किया। दीर्घकाल तक निवास के फलस्वरूप व्रजभूमि में अच्छी घास का अभाव हो गया था। फिर उन दिनों लकड़बग्घों का भी उपद्रव बढ़ गया था। उन्होंने

प्रस्ताव रखा, " यमुना के तट पर वृन्दावन नामक एक स्थान है। जैसा वह देखने में सुन्दर है, वैसे ही वहाँ घास की भी प्रचुरता है; वहाँ स्थानान्तरित हो जाने पर गोपवृन्द को हर प्रकार से सुविधा होगी।" रामकृष्ण के उत्साहित करने पर व्रजवासी वृन्दावन चले गये। इस प्रकार उन्होंने सभी विषयों में नवीनता और उन्नति का मार्ग दिखाकर गोपजाति में नवजीवन का संचार किया।

एक दिन गायें वन के भीतर चर रही थीं और ग्वालबाल खेल में मग्न थे। उसी समय जंगल में दावानल जल उठा। देखते ही देखते हवा के झोंकों से आग चारों ओर फैल गयी। गायें भयभीत होकर इधर उधर भागने लगी और इस प्रकार संकट में और भी वृद्धि हो गयी। राम तथा कृष्ण असीम साहस और धैर्य का परिचय देते हुए गायों तथा गोपबालों को धीरे धीरे एकत्र कर वन से बाहर ले आए।

वृन्दावन के निकट एक सरोवर था, जिसमें अनेक काले काले विषधर साँप निवास करते थे और चराते समय किसी गाय अथवा गोपबाल के उधर जाते ही उसे काट लेते थे। बाल-गोपालों की सहायता से राम-कृष्ण ने उन साँपों को मारकर असीम साहस दिखाया। प्रलम्ब तथा धेनुक नामक दो वन्य जन्तुओ को बलराम ने अकेले ही मार डाला। पुराणों में अनेक असुरों के वध की बातें हैं, पर वे इतनी अद्‌भुत तथा असम्भव लगती हैं कि उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि राम-कृष्ण ने बाल्यकाल से ही ऐसे बल, बुद्धि एवं साहस का प्रदर्शन किया कि लोगों ने उनके विषय में अनेक असम्भव घटनाओं की कल्पना कर डाली थीं।

– ३ –

शान्त स्वभाव गोपकुल के नवजागरण तथा राम-कृष्ण की अपूर्व कीर्ति-कथा विभिन्न प्रकार से अतिरंजित होकर कंस के कानों में भी पहुँची। पश्चिमी भारत उसके प्रताप से कम्पित हो रहा था। अपने घर के पास ही गोपगण जाग उठे हैं – यह समाचार वह पचा नहीं सका। देवकी के सभी सन्तानों का तो वह अपने ही हाथों संहार कर चुका था, तो फिर ये दो बालक कहाँ से आ टपके ! विभिन्न प्रकार की आशंकाओं से उसका मन आन्दोलित हो उठा, ईर्ष्या से दग्ध हो उठा। गोपकुल का गर्व चूर किये बिना उसे शान्ति नहीं मिल सकती थी। परन्तु अपने पिता को उसने बन्दी बना लिया था,

भानजों की हत्या कर डाली थी और सैकड़ों प्रकार से लोगों पर अत्याचार करने के कारण कोई भी उसका मित्र नहीं रह गया था। अत्याचारी का मन बड़ा दुर्बल हुआ करता है। कंस को प्रकट रूप से गोपों के साथ शत्रुता करने का साहस नहीं हुआ। उसने एक चाल का सहारा लिया।

कंस एक यज्ञ का आयोजन करने लगा। वृन्दावन के गोपगण उसी की प्रजा थे, अतः उसने यज्ञ के उपलक्ष्य में करस्वरूप उन्हें दूध-दही लाने का आदेश दिया। अक्रूर को इस समाचार के साथ वहाँ भेजा गया। कंस ने अकेले में अक्रूर को बता दिया था कि छल-बल से या चाहे जैसे भी हो राम-कृष्ण को मथुरा ले आना होगा। अक्रूर भी कंस के मित्र न थे, उन्होंने सारी बातें राम-कृष्ण को बता दीं। उस समय दोनों भाइयों की आयु सोलह वर्ष से भी कम थी।

नन्द आदि गोपगण राजा का आदेश पाकर दूध-दही लिए मथुरा आए। राम-कृष्ण ने भी अपने ग्वाल-बाल मित्रों के साथ उत्सव देखने के निमित्त उनका अनुगमन किया। राजधानी में पहुँचकर वे लोग डकैतों के समान लूटपाट करने लगे। उनका सौन्दर्य तथा साहस देखकर नागरिकों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। माली विभिन्न प्रकार के पुष्प तथा मालाएँ लेकर राजमहल में जा रहा था। उन लोगों ने माली से वह सब छीनकर स्वयं पहन लिया और आनन्द मनाने लगे। धोबी राजा के पोषाक आदि लेकर जा रहा था, इन लोगों ने उसे लूटकर स्वयं धारण कर लिया। इन दो बालकों में क्या ही असीम साहस था ! जिस कंस के भय से सभी सन्त्रस्त रहते थे, ये लोग उसी की राजधानी में उसी की वस्तुएँ छीन-झपट रहे थे। जैसा कि स्वाभाविक था, सारा समाचार कंस तक जा पहुँचा। कंस क्रोध में पागल-सा हो गया।

उत्सव के निमित्त राजसभा में भी विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था हुई थी। कंस ने कुवलयापीड़ नामक एक पागल हाथी को मुख्य द्वार पर खड़ा कराने के बाद, राम व कृष्ण को उत्सव दिखाने के बहाने भुलावा देकर उसी रास्ते से ले आने की व्यवस्था भी कर दी थी। महावत को बता दिया था कि वह उन्हें हाथी के पैरों तले रौंद डाले। यदि किसी कारणवश वे हाथी से बच निकले, तो फिर उन्हें मारने की एक और व्यवस्था थी। उसकी सभा में अनेक पहलवान थे, जिनमें चाणूर तथा मुष्टिक सर्वप्रधान थे। कंस ने उन्हें बता रखा था कि राम-कृष्ण के दरबार में आते ही उन्हें कुश्ती लड़ने की चुनौती देकर मार डालना होगा। चौदह-पन्द्रह वर्ष के दो बालकों को

भाव का संचार किया था, और इस अकल्पनीय घटना से सभी स्तम्भित रह गए। किसी ने चूँ तक नहीं की। अन्त में कृष्ण के पाँव की भयानक ठोकर खाकर जब कंस खून की उल्टी करते हुए जिह्वा निकालकर मर गया और यह समाचार पाकर अन्तःपुर की नारियाँ भीषण चीत्कार करते हुए रुदन करने लगीं, तब मानो सबके होशो-हवास वापस लौटे। इसी बीच राम-कृष्ण ने वसुदेव के चरणों में प्रणाम किया और वे उनका आलिंगन करने के बाद अपने बाकी सगे-सम्बन्धियों के साथ उनका परिचय कराने लगे। अनेक सभासदों को इसके पूर्व ही राम-कृष्ण का परिचय प्राप्त हो चुका था। राम-कृष्ण द्वारा नगर में तरह तरह के उपद्रव प्रारम्भ करने पर प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति समझ गए थे कि वसुदेव के इन दो पुत्रों द्वारा कुछ न कुछ होने वाला है। किसी को भी कंस से प्रेम न था। अतः अब सभी जी खोलकर राम-कृष्ण को आशीर्वाद देने लगे।

राम-कृष्ण ने राजा उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर दिया। वे पुनः मथुरा के राजा हो गए। राम-कृष्ण अब तक गोपों के घर में थे। उनकी शारीरिक शिक्षा तो अच्छी हो चुकी थी, परन्तु अब तक क्षत्रियोचित उपनयन, वेदाध्यनन आदि नहीं हो सका था। वसुदेव ने महर्षि गर्ग के हाथों उनका उपनयन संस्कार कराकर उन्हें अवन्ती नगर में स्थित संदीपनी मुनि के पास वेदाध्ययन के लिए भेज दिया। वे श्रुतिधर थे, अतः अल्प काल में ही सर्व शास्त्रों में पारंगत होकर घर लौट आए।

– ४ –

उग्रसेन के राजा हो जाने पर भी, व्यवहार में राम-कृष्ण ही राज्य चलाने लगे। मगध का राजा जरासन्ध कंस का श्वशुर था। अपने दामाद के वध का बदला लेने के लिए उसने मथुरा को घेर लिया, परन्तु राम-कृष्ण की वीरता के सम्मुख पराजित होकर उसे पलायन करना पड़ा। राम-कृष्ण यदुवंशी युवकों को एकत्र कर उन्हें युद्ध की शिक्षा देने लगे। जरासन्ध ने भी उत्तरोत्तर बड़ी से बड़ी सेना लेकर बरम्बार मथुरा पर आक्रमण किया। इस प्रकार वह सत्रह बार युद्ध करने आया, परन्तु हर बार पराजित होकर लौट जाने को बाध्य हुआ।

राम-कृष्ण ने देखा कि जरासन्ध का सारा क्रोध उन्हीं दोनों के ऊपर है और उनके मथुरा रहते जरासन्ध युद्ध करने से बाज नहीं आयेगा। यादवगण

मारने के लिए बड़ी पक्की ही व्यवस्था की गई थी।

राम-कृष्ण उत्सव देखने के लिए राजसभा की ओर चले। सिंहद्वार पर कुवलयापीड़ ने उन पर आक्रमण किया। असीम बलशाली राम क्षणभर में ही हाथी के पीछे जा पहुँचे और उसकी पूँछ पकड़कर खींचने लगे। हाथी के जी जान से आगे बढ़ने का प्रयास करने पर राम ने अचानक ही उसे छोड़ दिया और इसके साथ ही हाथी लुढ़ककर धरती पर गिर पड़ा। कृष्ण सामने ही थे। वे उछलकर उसके मस्तक पर चढ़ गए और पादप्रहार के द्वारा उसकी खोपड़ी का कचूमर निकाल दिया। इसी बीच राम भी दौड़कर आए और हाथी के दोनों दाँत उखाड़कर दोनों हाथों से उसे चुभोने लगे। हाथी भयानक स्वर में चीत्कार करने लगा।चारों ओर सैकड़ों लोग एकत्र होकर काफी शोरगुल मचाने लगे। हाथी के प्राणपखेरू उड़ गए।

इसके पूर्व भी वे नगर में हलचल मचा चुके थे और इस घटना से राजसभा में उपस्थित सभी लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकृष्ट हुई। सभी इन दोनों भाइयों को देखने के लिए दौड़े। सैकड़ों लोग उन्हें घेरकर तरह तरह के प्रश्न पूछने लगे। एक साँवले तथा दूसरे गौरवर्ण होने पर भी दोनों भाई रक्त से लाल हो गये थे, हाथों में हाथी के दाँत थे, कपड़े से कमर कसे हुए थे – इसी अवस्था में सैकड़ों नागरिकों से घिरे हुए उन्होंने सभा में प्रवेश किया। बालकों की मनोहर मूर्ति इससे और भी मनोहर होकर सबके हृदय में स्नेह का संचार कर रही थी। परन्तु दुष्ट कंस की दृष्टि में ये यम के समान भयंकर प्रतिभात हुए। अपना कर्तव्य निश्चित न कर पाकर वह स्तम्भित रह गया।

चाणूर ने कृष्ण को और मुष्टिक ने बलराम को द्वन्द्वयुद्ध की चुनौती दी। वे लोग भीमकाय और बदसूरत थे और बालक राम-कृष्ण कोमलगात तथा बड़े सुन्दर थे। अतः इस असमान द्वन्द्वयुद्ध में सबकी सहज सहानुभूति राम-कृष्ण के साथ ही रही। काफी देर तक युद्ध चलता रहा, परन्तु आखिरकार उन्होंने अदभुत कुशलता के साथ चाणूर तथा मुष्टिक दोनों को मार डाला।

चाणूर और मुष्टिक के धराशायी हो जाने पर कंस भय से मरणासन्न हो गया। कृष्ण सहसा उछलकर मंच पर चढ़ गये और घूँसों के प्रहार से कंस के मस्तक से मुकुट को गिराकर उसके बाल पकड़कर सिंहासन के नीचे जमीन पर फेंक दिया और उस पर लात-घूँसों की भयंकर वर्षा करने लगे। सिंहासन के निकट कृष्ण को देखते ही कंस घबराकर जड़वत हो गया था। इसके पूर्व हुई घटनाओं के द्वारा राम-कृष्ण ने सभा में उपस्थित सबके मन में अभूतपूर्व

युद्ध करते करते थक चुके थे, राजकोष खाली हो चला था और दुर्ग टूट गया था। ऐसी अवस्था में युद्ध जारी रखना सम्भव न था। अतः उन्होंने मथुरा में ठहरना उचित न मानकर दक्षिणापथ की राह ली।

उन दिनों रेल्वे, टेलीग्राफ तथा समाचार पत्रों का अस्तित्व नहीं था। बड़े कष्ट से दूतों के द्वारा एक देश का समाचार दूसरे देशों में पहुँचा करता था। राम-कृष्ण ने सोचा कि जरासन्ध को अब उनका समाचार नहीं मिल सकेगा। परन्तु जरासन्ध और उसके दूत बड़े चालाक थे। दूतों ने राम-कृष्ण विषयक सारा समाचार संग्रहित कर जरासन्ध के पास पहुँचा दिया। जरासन्ध ने मित्र–राज्यों की सम्मिलित विशाल सेना के साथ दक्षिणापथ की ओर अभियान किया। राम-कृष्ण के मौसा चेदिपति यह सब खबर पाकर बड़े ही विचलित हुए और उनकी सहायता के लिए एक चुनिन्दे सैनिकों को लेकर स्वयं ही जरासन्ध के पीछे पीछे चल पड़े।

राम-कृष्ण गोमन्त (गोवा) नामक पर्वतीय क्षेत्र में थे। जरासन्ध ने उस राज्य पर आक्रमण किया। समतल क्षेत्रों के निवासी योद्धा के लिए पर्वतीय प्रदेश में युद्ध करना बड़ा कठिन होता है और स्थान अपरिचित हो तो इसे बिलकुल असम्भव ही समझना चाहिए। परन्तु मूर्ख अहंकारी जरासन्ध ने अपनी सेना के साथ पर्वतीय प्रदेश में प्रवेश किया। राम-कृष्ण उस क्षेत्र से भलीभाँति परिचित हो चुके थे। चेदिपति की सहायता से उन्होंने जरासन्ध तथा उसके मित्र राजाओं को ऐसी शिक्षा दी कि उनमें से कइयों ने तो किसी प्रकार भागकर अपने प्राण बचाए; सेना, तम्बू, रथ, रसद, अस्त्र-शस्त्र कुछ भी लौटकर नहीं आया।

भागकर भी जरासन्ध से पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता, यह देखकर राम-कृष्ण चेदिपति की सलाह पर पुनः मथुरा लौट गए। मथुरा नगरी समतल भूमि पर स्थित है, अतः उसे चारों ओर से घेरा जा सकता है। यदुवंश के योद्धाओं के साथ परामर्श करने के बाद वे लोग अपनी राजधानी समुद्रवेष्ठित द्वारावती में ले आए और यादव वंश के युवकों को युद्धकला में प्रशिक्षित कर दिया, उनमें से श्रेष्ठ योद्धाओं की एक अजेय सेना का गठन करके, उसका नाम 'नारायणी सेना' रख दिया गया। श्रीकृष्ण युद्धकौशल में बेजोड़ थे। और राम शत्रुसंहार में अजेय तथा गदायुद्ध में भारत के सर्वश्रेष्ठ वीर थे। उन्होंने हल के आकार का एक भयानक अस्त्र बनवाया था। उसे लेकर जब वे शत्रुसेना में प्रवेश करते तो किसी की खैर न थी। उनके शरीर में इतना बल था कि

लोगों ने उन्हें बल का देवता मानकर उन्हें 'बलदेव' तथा 'बलराम' का नाम दे दिया था। हल उनका प्रधान अस्त्र था, अतः हलधर अथवा हलीराम उनका एक और नाम हुआ।

– ५–

कुशस्थली के राजा रेवत के एक अतीव रूपवान कन्या थी। राजा ने राम को उस कन्या का दान किया। विदर्भ के राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी का हरण करके उन्होंने श्रीकृष्ण का विवाह किया। रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न ने अपने मामा की पुत्री शुभांगी के साथ विवाह किया। उन दिनों इसी प्रकार के विवाह की प्रथा थी। इस विवाह के उपलक्ष्य में राम ने कई दिन विदर्भ की राजधानी कुण्डिन में बिताए। उन दिनों राजाओं के बीच बाजी लगाकर पासा खेलने की प्रथा खूब प्रचलित थी। इस खेल में जो जितना दक्ष होता, वह उतना ही सम्मानित होता और खेल न जानना बड़े लज्जा की बात मानी जाती थी। राम वीर पुरुष थे, इस तरह के बच्चों के खेल उन्हें बिल्कुल भी नहीं भाते थे।

विवाह के उपलक्ष्य में कुण्डिन में दक्षिणात्य के अनेक राजा आए थे। वे सभी धर्मज्ञानरहित, जुआड़ी, छली तथा कलहप्रिय थे। राम बड़े सरल व्यक्ति थे। उन लोगों ने राम को पासा खेलने के लिए पकड़ा। वे सहमत हुए। अमनोयोग के साथ खेलते हुए पहले तो वे खूब हारे। राजागण और विशेषकर रुक्मी उनकी खूब हँसी उड़ाने लगे। यह उपहास क्रमशः निन्दा एवं अभद्रता में परिणत हुआ। तब राम के सावधानीपूर्वक खेलने पर प्रतिपक्ष हार गया। परन्तु उन लोगों ने हार को स्वीकार नहीं किया और उपहास, आदि अवज्ञा करके राम को इतना नाराज कर दिया कि उन्होंने रुक्मी को द्वन्द्वयुद्ध के लिए चुनौती दे दी। मूर्ख राजागण बलराम के शान्त, सरल एवं निरहंकार स्वभाव को देखकर उनकी वीरता के बारे में अनुमान नहीं लगा सके थे। परन्तु जब युद्धक्षेत्र में उन्होंने खेलखेल में ही रुक्मी का वध करने के बाद बाकी राजाओ का आवाहन किया, तो सभी भय से भाग खड़े हुए।

कन्या का हरण करके विवाह करना क्षत्रियों के लिए बड़े गौरव की बात थी, क्योंकि इसमें वीरता को खूब अभिव्यक्ति मिलती थी। दुर्योधन ने अपनी पुत्री लक्षणा के विवाह हेतु एक स्वयंवर का आयोजन किया था। श्रीकृष्ण के पुत्र शाम्ब ने लक्षणा का हरण कर लिया। परन्तु राजाओं ने मिलकर शाम्ब

को पकड़ लिया। राम जब शाम्ब को छुड़ाने गए, तो राजागण तो भय के मारे शाम्ब को मुक्त करने के लिए तैयार हो गए, परन्तु दुर्योधन उनसे सहमत नहीं हुआ। उसका राम के साथ युद्ध लग गया। राम जब अपनी गदा तथा हलास्त्र के साथ मैदान में उतरे तो हस्तिनापुर की रक्षा करना कठिन हो उठा। सेना का संहार करने के बाद राम अपने हलास्त्र से किले की दीवारों को उखाड़ने लगे। दुर्योधन ने भयभीत होकर शाम्ब तथा लक्षणा को उनके हाथों सौंप दिया और गदायुद्ध सीखने की अभिलाषा से वह उनका शिष्य बन गया। आशुतोष राम उस पर बड़े सन्तुष्ट हुए और पूरे हृदय के साथ उसे ऐसी शिक्षा दी कि दुर्योधन भी गदायुद्ध में अपने गुरु के समान ही अजेय हो गया।

राम की सुभद्रा नाम की एक बहन थीं। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन को ही वह कन्या प्रदान करने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु कृष्ण उसे सुभद्रा के उपयुक्त नहीं मानते थे। एक बार अर्जुन ने अपने भ्रमण के दौरान कुछ दिन उन लोगों के साथ निवास किया। कृष्ण के संकेत पर एक दिन वे सुभद्रा को लेकर भाग गए। इस पर राम अत्यन्त क्रुद्ध हुए और यादवसेना को अर्जुन को पकड़ लाने का आदेश दिया। यादवों ने अर्जुन पर आक्रमण किया। परन्तु सुभद्रा को सारथी के रूप में अर्जुन का रथ हाँकते देखकर वे लोग युद्ध करने को अग्रसर नहीं हुए। इस विषय में कृष्ण की भी सहमति है यह जानकर राम का क्रोध क्षण मात्र में चला गया। युद्ध का उपक्रम विवाहोत्सव में परिणत हुआ।

राम का हृदय बड़ा ही कोमल था। कृष्ण यह भलीभाँति जानते थे और इसीलिए बीच बीच में उन्हें चिढ़ाकर मजा लिया करते थे। राम चाहे जितने भी नाराज हो जायँ, पर किसी को कोई कष्ट होते देख तत्काल पिघल जाते। श्रीकृष्ण से उनका इतना लगाव था कि वे किसी विषय में उन्हें बिन्दु मात्र भी नाराज नहीं करना चाहते थे। जीवन भर युद्ध में बिताने पर भी उन्हें युद्ध से प्रेम न था; अन्याय का प्रतिकार क्षत्रियों का विशेष धर्म है, अतएव कर्तव्यबोध से उन्हें युद्ध करना पड़ता था।

— ६ —

कौरव-पाण्डवों के बीच युद्ध की सम्भावना जानकर राम अत्यन्त व्यथित हुए। कृष्ण विवाद का निपटारा कराने हस्तिनापुर गए। राम को आशा थी कि उनके ऐसे कुशल भाई अवश्य ही विवाद को मिटाकर लौटेंगे। परन्तु

दुर्योधन युद्ध करने को बड़ा उत्सुक था, अतः वह किसी भी कीमत पर समझौता करने को राजी न हुआ। श्रीकृष्ण अपने उद्देश्य में विफल होकर लौट आए। दुर्योधन राम के सुयोग्य शिष्य थे, अतः उन्हें दुर्योधन से बड़ा लगाव था। परन्तु जब वह श्रीकृष्ण के कहने पर भी युद्ध से विरत नहीं हुआ, तब वे बड़े मर्माहत हुए। सामने रहकर यह आपसी कलह देखना उनके लिए सम्भव न था। अतः वे तीर्थयात्रा के बहाने देश छोड़कर भ्रमण को निकल पड़े।

तीर्थदर्शन करते हुए राम नैमिषारण्य जा पहुँचे। ऋषिगण वहाँ एक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। उसी उपलक्ष्य में वे लोग सूतजातीय व्यास-शिष्य रोमहर्षण को व्यासपीठ पर बैठाकर पुराणकथा सुन रहे थे। राम के वहाँ पहुँचने पर मुनियों ने उनका यथाविधि स्वागत किया, परन्तु रोमहर्षण अपने आसन पर ही स्थिर बैठे रहे। राम ने उनका यह अहंकार देखकर क्रोध में उन पर एक आघात किया, जिससे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। ऋषिगण हाय हाय कर उठे। राम द्वारा कारण पूछने पर उन लोगों ने बताया कि व्यासपीठ पर आसीन होने के बाद किसी को अभिवादन न करने का नियम है। राम को बड़ा पश्चाताप हुआ और उन्होंने प्रायश्चित्त करने की इच्छा व्यक्त की। मुनियों ने उन्हें बताया कि उनसे ब्रह्महत्या का पाप हो गया है और भारतवर्ष के समस्त तीर्थों का भ्रमण ही इसका प्रायश्चित्त है।

विधाता के विधान को रोकने की किसी में भी सामर्थ्य नहीं है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में जैसे अन्याय व निष्ठुरता का प्रदर्शन हुआ, बलराम के उपस्थित रहने से वैसा नहीं हो पाता। परन्तु राजाओं का चरित्र यदि युद्ध के दौरान व्यक्त नहीं होता, तो मानवजाति की शिक्षा नहीं हो पाती, क्षत्रियगण कितने कलुषित हो चुके हैं इसका पता नहीं चल पाता; भय के कारण दोनों पक्ष युद्ध से विरत तो हो जाते परन्तु भीतर ही भीतर सारा पाप रह जाता। भगवान के करुणावतार राम के लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लेना सम्भव न था, इसीलिए भगवान ने उन्हें विशेष प्रयास से हटा दिया। उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था कि इस युद्ध में सम्पूर्ण भारत के राजा सम्मिलित होंगे और इतनी अल्प अवधि में ही सारा क्षत्रियकुल निर्मूल हो जायगा।

बलदेव तीर्थों का भ्रमण करने लगे, परन्तु थोड़े ही दिनों में युद्ध सम्बन्धी भयानक संवाद पाकर वे विचलित हो उठे। प्रथमतः तो युद्ध ही बड़ा भयानक एवं बीभत्स था और फिर उसका समाचार भी काफी अतिरंजित होकर उनके पास पहुँचा था। प्रभास तीर्थ तक पहुँचते पहुँचते उनके सुनने में आया कि

क्षत्रिय वर्ण का ध्वंश हो गया है, नारायणी सेना आदि सब समाप्त हो चुकी है, परन्तु दुर्योधन अब भी जीवित है। राम का मन आतंक से परिपूर्ण हो उठा और वे तीव्र गति से कुरुक्षेत्र आ पहुँचे। उस समय भीम तथा दुर्योधन के बीच युद्ध चल रहा था।

बड़ा ही बीभत्स दृश्य था। भीम तथा दुर्योधन दोनों ही क्रोध से उन्मत्त होकर पशु के समान एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे। दोनों ही मरणासन्न हो रहे थे। दुर्योधन गदायुद्ध में अद्वितीय थे, अतः भीम हारते जा रहे थे। तभी भीम ने दुर्योधन की जाँघ पर गदा से चोट की, जिसके फलस्वरूप जाँघ टूट गई और दुर्योधन धरती पर गिर पड़ा; भीम उसके सिर पर गदाघात करने लगे। गदायुद्ध में नाभि के नीचे आघात करने का नियम नहीं था, और गिरे हुए शत्रु को अपमानित करना तो उससे भी बड़ा अन्यांय समझा जाता था। बलराम क्रोध के आवेश में हाथ में हल उठाए भीम पर आक्रमण करने को दौड़े। कृष्ण ने उन्हें पकड़कर मना किया और पूर्व की घटनाएँ बताने लगे, "इसी दुर्योधन ने अपने ही कुल की रानी द्रौपदी को सभा के बीच नंगा करने का प्रयास किया था, बारम्बार उसे अपनी जाँघ पर बैठने को कहा था; इसीलिए भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि एक दिन वह दुर्योधन की जाँघ तोड़ डालेगा। अपनी प्रतिज्ञा के पालनार्थ ही भीम ने उसकी जाँघ पर आघात किया है।" अब कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं हुई। राम को सारी बातें स्मरण हो आईं। वे समझ गए कि कुरुक्षेत्र के इस जटिल घटनाक्रम के बीच श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए भी अपनी मति को स्थिर रखकर कर्तव्य का निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। उस भयानक स्थान पर उन्हें क्षण भर भी ठहरने की इच्छा नहीं हुई और वे तत्काल ही कुरुक्षेत्र से चल पड़े।

– ७ –

कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण अकेले ही युधिष्ठिर के पक्ष में सम्मिलित हुए थे। यदुवंश की सुशिक्षित वीर योद्धाओं की नारायणी सेना ने दुर्योधन का पक्ष लिया था। इसके फलस्वरूप यदुवंश के अनेक प्रमुख योद्धा कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लेने से रह गए। राम-कृष्ण के साथ रहकर अनेकों बार युद्ध करने से इन लोगों को युद्धविद्या का असाधारण ज्ञान था। महाभारत युद्ध के बाद भारत में युद्ध की आवश्यकता नहीं रह गई और बिना युद्ध के यदुवंशी वीरों के लिए समय बिताना कठिन हो गया। मद्य-मास उनका नित्य का

आहार था, दम्भ-अहंकार उनके चरित्र का आभूषण था और मद्यपान कर दिन-रात तर्क-वितर्क, झगड़ा-टण्टा तथा जुआ खेलना उनका नित्यकर्म हो गया। कुरुक्षेत्र के समान एक महत्वपूर्ण युद्ध में भाग न ले पाने के कारण उन लोगों के मन में बड़ा खेद था। किसी युद्ध-विवाद के लिए वे लोग प्यासे हो उठे। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद राम-कृष्ण सभी विषयों में उदासीन हो चुके थे। तथापि उनके भय से ये लोग थोड़े शान्त रहते थे। अब उनकी निश्चेष्टता पर ये लोग और भी उन्मत्त हो उठे।

राम-कृष्ण ने देखा कि इस युद्धप्रिय जाति को सम्भालकर रख पाना बड़ा कठिन है। उन्हें किसी प्रकार उत्सव-आमोद-प्रमोद में बहलाकर रखने के उद्देश्य से राम-कृष्ण ने उन्हें लेकर प्रभास तीर्थ जाने का निश्चय किया और तदनुसार व्यवस्था करने का आदेश दिया। बड़े उत्साहपूर्वक सारा आयोजन होने लगा। मद्य-मांस की भी खूब व्यवस्था हुई।

प्रभास पहुँचकर सबने बड़ा शान्त भाव दिखलाया। परन्तु ज्यों ज्यों यथेच्छा मद्यपान कर उन पर नशा चढ़ने लगा, त्यों त्यों वे अदम्य हो उठे। पहले तो उनके बीच हास-परिहास शुरू हुआ और तदुपरान्त क्रमशः झगड़ा, हाथापाई और मारपीट भी होने लगी। राम-कृष्ण ने यह सोचकर अस्त्र धारण कर लिया कि ये लोग शायद भय से शान्त हो जाएँगे। परन्तु इस पर वे लोग और भी भड़क उठे और एक-दूसरे की हत्या करने लगे। एक अन्य कुरुक्षेत्र का दृश्य अभिनित होने लगा। सबके भीषण रूप से घायल या मृत हो जाने के बाद ही युद्ध थमा। राम-कृष्ण ने खड़े खड़े सब देखा।

कोमल-हृदय बलराम इतना सब सहन सहन नहीं कर सके और वहीं योगासन में बैठ समाधिमार्ग से वैकुण्ठलोक चले गए। यदुवंश के वृद्धों, नारियों तथा बालकों की रक्षा का भार दूत के मुख से अर्जुन को भेजने के बाद श्रीकृष्ण ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुसरण किया।

कृष्णभक्त वेदव्यास ने हिन्दू धर्म की रक्षा तथा प्रचार हेतु अनेक ग्रन्थ लिखे और श्रीकृष्ण-चरित्र के आदर्श के रूप में निष्काम कर्मयोग का भारत वर्ष में प्रचार किया। इससे मानवजाति को शान्ति की उपलब्धि हुई।

जीवन यात्रा : थोड़ा यूँ भी तो देखें (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मानव जीवन एक लम्बी यात्रा है और हम सब यात्री हैं। हम इसे जानें या न जानें, चाहें या न चाहें हम यात्री हैं तथा गंतव्य तक पहुँचने के पहिले तक हमें यात्रा करनी ही पड़ेगी। यात्री होना हमारी विवशता है।

इस यात्रा में हमें अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। अच्छे-बुरे, कड़वे-मीठे, सभी प्रकार के। मनुष्य यदि चाहे तो अपने अनुभव के आधार पर अपनी यात्रा के बचे हुये भाग को सुधार सकता है, उसे सुखद और सहज बना सकता है। इतना ही नहीं यदि वह दृढ़ संकल्प हो कमर कस कर कार्य में जुट जाय तो वह इसी जीवन में अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव तक, गंतव्य तक पहुँच सकता है।

इसके लिये यह आवश्यक है कि हम थोड़ी देर ठहरें तथा अपनी यात्रा पर एक दृष्टि डालें। थोड़ा उसका लेखा-जोखा करें। देखें कि जीवन यात्रा के किस पड़ाव पर हम खड़े हैं। हमारे अनुभव क्या हैं? हमने क्या पाया और क्या खोया? कहाँ पहुँचे हैं कहाँ जाना हैं?

इन बातों पर विचार कर हम अपनी जीवन यात्रा को सुव्यवस्थित, गतिशील और सुखद बना सकते हैं। आवश्यक होने पर अपनी यात्रा की दिशा बदल सकते हैं। जीवन को तराश कर साफ सुथरा बना सकते हैं। उसे सँवार सकते हैं। मानव जीवन में सुधार की असीम संभावनायें हैं। उन्नति के अनगिनत अवसर हैं।

यह कार्य आज और अभी, हम जहाँ जैसे हैं, वहीं से प्रारंभ किया जा सकता है। आप हम सभी यह कार्य कर सकते हैं। आज या कल हमें यह कार्य करना ही होगा। इसिलिये क्यों न आज ही यह कार्य प्रारंभ कर दिया जाय।

यही उद्देश्य लेकर 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के सम्मुख जीवन यात्रा पर ये कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। संभव है इन विचारों से सुधि पाठकों के विचारों को भी उत्तेजना मिले तथा वे भी अपने जीवन में नये प्रयोग करें। सह यात्रियों को भी अपने जीवन अनुभव का लाभ दें तथा लोक कल्याण में सहभागी बनें।

इस प्रकार हम जीवन की महत ऊँचाइयों पर पहुँच सकेंगे तथा जीवन यात्रा की नई मंजिलों को देख सकेंगे।

यात्रा

जीवन यात्रा पर विचार करने के पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि 'यात्रा' अपने आप में क्या है? क्या लक्षण हैं यात्रा के, क्या शर्तें हैं यात्रा की?

किसी भी यात्रा के लिये तीन बातें आवश्यक हैं। इनके बिना यात्रा की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

(१) यात्रा का प्रारंभिक बिन्दु (२) गंतव्य (३) मार्ग तथा वहन

(१) **यात्रा का प्रारंभिक बिन्दु** : दूसरे शब्दों मे यात्री कहाँ खड़ा है? उसे अपनी यात्रा किस बिन्दु से प्रारंभ करनी है? यात्री को यदि यह न मालूम हो कि वह कहाँ खड़ा है, तो उसकी यात्रा प्रारंभ ही नहीं हो सकती। यदि प्रारंभ होगी तो वह भटकाव होगा यात्रा नहीं। क्योंकि उसे यही नहीं मालूम कि वह कहाँ खड़ा है, वह जाएगा कहाँ? इसलिए यात्री को पहले अपनी अवस्थिति का कि वह कहाँ खड़ा है, ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिये। यह सुनने में बड़ा सरल लगता है। किन्तु हम जीवन यात्रा के पथ में कहाँ खड़े हैं यह जानना इतना सरल नहीं है। इसके लिए अपना ही परीक्षण निरीक्षण करना पड़ता है। अपने भीतर बाहर झाँक कर देखना पड़ता है कि आखिर हम खड़े कहाँ हैं? क्योंकि बहुत बार हम जीवन यात्रा में न चल कर भटक भर रहे होते हैं। अतः अपने भटकाव को पहिचानना होता है। भटकने वाला यात्री शायद ही कभी लक्ष्य पर पहुँच पाता है। जब वह यह समझ लेता है कि मैं भटक गया हूँ तभी वह रुक कर सोचता है कि देखूँ तो मैं भटक कर कहाँ आ गया हूँ – जाना कहाँ था और कहाँ पहुँच गया।

मित्रो, तो सबसे पहले यह देख लें कि हम खड़े कहाँ हैं? कहीं भटक तो नहीं गये हैं। यदि भटक गये हों तो तुरंत रुक जायें और देखें कि आखिर हम खड़े कहाँ हैं। एक बार जब हम यह जान गये कि हम खड़े कहाँ हैं तो हमारी यात्रा की एक शर्त पूरी हो गयी। अब हम सही यात्रा के अधिकारी हो गये।

(२) **गंतव्य** : यात्रा के लिये दूसरी आवश्यक बात है 'गंतव्य'। जाना कहाँ है? यात्री को यदि यह ज्ञात भी हो जाए कि वह कहाँ खड़ा है तब भी उसकी यात्रा तब तक प्रारंभ नहीं हो सकती जब तक कि उसे यह मालूम न

हो कि उसे जाना कहाँ है? उसका गंतव्य क्या है? गंतव्य को जाने बिना भी यात्रा प्रारभ नहीं हो सकती। यदि हुई भी तो वह भटकाव होगा। व्यर्थ घूमना होगा।

(३) तीसरी आवश्यक बात है - **मार्ग और वाहन।** यात्री यह जान गया कि वह कहाँ खड़ा है तथा यह भी जान गया कि उसका गंतव्य क्या है, तब भी उसकी यात्रा प्रारंभ नहीं हो सकती, जब तक कि उसे यह न मालूम हो कि गंतव्य तक पहुँचने का रास्ता कौन सा है।

रास्ते के साथ और भी कई बातें जुड़ी होती हैं। रास्ते अनेक हो सकते हैं, रास्ते की आवश्यकताएँ भी अलग हो सकती हैं। आदि आदि।

आइये अब इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में जीवन यात्रा पर थोड़ी चर्चा करें। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि हम सभी जीवन यात्रा के यात्री हैं। हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें, हम सब यात्री हैं, और गंतव्य पर पहुँचने के पहिले तक यात्री रहेंगे। यात्रा करना और यात्री होना हमारी विवशता है, मजबूरी है। हमें चलना अवश्य है, चाहे हम सीधी दिशा में चलें या उल्टी दिशा में चलें। यात्रा की समाप्ति तक, गंतव्य पर पहुँचने तक हमको चलना अवश्य पड़ेगा। चरैवेति ! चरैवेति !! चलते रहो ! चलते रहो !! यही जीवन यात्रा का विधान है। नियम है।

अब जब यह निश्चित है कि हम यात्री हैं और हमें चलना अवश्य है तो यह देखें कि हमने यात्रा प्रारभ कहाँ से की है। हमारी यात्रा का प्रारंभ बिन्दु कहाँ है ? यहाँ यह जान रखें कि हमारा यह जन्म हमारी यात्रा का प्रारभ बिन्दु नहीं है न ही इस बार की मृत्यु यात्रा की समाप्ति होगी, यदि हम मृत्यु के पूर्व गतव्य पर पहुँच न गये हों।

जन्म और मृत्यु दोनों हमारी महान यात्रा के दो पड़ाव मात्र हैं। हम किसी स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़े हैं, किसी बस स्टैंड पर हैं, किसी हवाई अड्डे पर हैं, जहाँ से हमें आगे या पीछे जाना है। जाना अवश्य है। जाना ही पडेगा। कोई विकल्प नहीं है।

हजारों साल पहिले एक सफल यात्री जो शीघ्र ही गंतव्य पर पहुँचने ही वाला था उससे भी एक बड़ी भूल हो गई थी। उसने ऐसा समझ लिया था कि जीवन यात्रा का सारा हिसाब किताब इसी जीवन में ही है। उसकी सारी

व्याख्या इसी जन्म में ही है। किन्तु भाग्यवान था वह! उसने जीवन यात्रा का रहस्य एक ऐसे महान व्यक्ति से पूछा जो इस यात्रा के सभी रहस्यों को आद्योपांत जानते थे। उतना ही नहीं उन्होंने हजारों लोगों को जीवन यात्रा के चरम गंतव्य पर पहुँचा दिया था। जीवन यात्रा के रथ के इस महासारथी से उस महायात्री ने पूछ ही लिया – भगवन्, आप कहते हैं कि आपने इस यात्रा की सफलता का रहस्य मुझसे पहिले भी उन लोगों को बताया था जो आपसे और मुझसे बहुत पहिले पैदा हुए थे। आप हम तो अभी पैदा हुए हैं। फिर मैं यह कैसे समझूँ कि आपने ही उन लोगों को इस यात्रा का रहस्य बताया था। आप सभी सत्संगी हैं, स्वाध्यायी हैं इसलिये आप इस महायात्री तथा महासारथी से परिचित हैं। भगवान श्रीकृष्ण वे महासारथी हैं और महायात्री हैं अर्जुन।

अर्जुन का भाग्य अच्छा था कि उसने ऐसे व्यक्ति से जीवन यात्रा का रहस्य पूछा जो आद्योपांत जीवन यात्रा के सभी रहस्यों के ज्ञाता थे। उन्होंने भी अर्जुन को माध्यम बनाकर कृपापूर्वक जीवनयात्रा का संपूर्ण रहस्य आने वाली सभी पीढ़ियों के सामने खोलकर रख दिया। भगवान ने कहा हे अर्जुन तेरे और मेरे इसके पहिले भी बहुत से जन्म हो चुके हैं उन सबको मैं जानता हूँ पर तू नहीं जानता[1]।

तो मित्रो इसके पूर्व भी हमारे लाखों जन्म हो चुके हैं। हमारी जीवनयात्रा अनादिकाल से चल रही है। वर्षों में उसका हिसाब नहीं हो सकता कि वह कब प्रारंभ हुई। वह तो कल्पों की बात है। हम जानें या न जानें हमारी यात्रा चल रही है। यह जन्म हमारी यात्रा का प्रारंभ नहीं है। यह यात्रा के बीच का पड़ाव मात्र है। एक स्टेशन है। एक जंक्शन है। जंक्शन इसलिये कि यहाँ से कई जगह के लिये गाड़ियाँ जाती हैं। स्वर्गलोक, नरक, पितृलोक, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक गाड़ियाँ जाती हैं। बैकुण्ठधाम या अपने इष्टलोक में भी जाने के लिये इसी जंक्शन से गाड़ी मिलती है। हम चाहें तो हमें इसी जंक्शन से हमारी यात्रा का चरम गंतव्य जीवन्मुक्ति धाम की भी गाड़ी हमें मिल सकती है और हम वहाँ पहुँच सकते हैं।

जंक्शन में हम खड़े हैं। कहाँ जाना है यह फैसला हमें करना है। हमारे

१ बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।। ५ ।। ४ गीता

गंतव्य का निर्णय हमें करना है। निर्णय कर लेने पर मार्गदर्शक अनेक मिल जायेंगे। सभी तरह की सूचनायें, गाइड उपलब्ध हैं। हम फैसला तो करें कि हम जाना कहाँ चाहते हैं?

कोई ढाई हजार साल से भी अधिक पहिले एक राजा ने अपने इकलौते बेटे की तथाकथित सुखद यात्रा के लिये बड़ी तैयारी की। उस राजा का विश्वास था कि संसार में जितनी अधिक सुख-सुविधा जुटाई जाय, भोग की जितनी व्यवस्था की जाय, जीवन यात्रा उतनी ही अधिक सुखी होगी, सफल होगी। बड़ी व्यवस्था की उसने। बड़ी तैयारियाँ की। राजकुमार भी स्वस्थ, सुन्दर, बलिष्ट और गुणवान था। उसकी सुखद जीवन यात्रा के लिये सभी चीजें जुटाई गईं। रंगमहल बनवाये गये हर ॠतु के लिये अलग अलग महल। राग-रंग खान-पान आमोद-प्रमोद की सुंदर व्यवस्था की गई। दास-दासियाँ, गायक-नर्तकियाँ क्या नहीं। इन सबके साथ परमा सुंदरी गुणवती अनुकुला पत्नी। कुमार के लिये संसार एक आनंद का मेला ही था। सुखद अत्यंत सुखद यात्रा चल रही थी। इन सुखों में मानो चार चाँद लगाने के लिये एक पुत्ररत्न का भी आगमन हुआ।

यात्रा चल रही थी और आनंदपूर्वक चल रही थी और तभी कुमार को जीवन यात्रा के वे भी पक्ष दिखे जिसे आज तक कुमार से छिपाने की कोशिश की गई थी। कुमार को एक रोगी दिखा, एक बूढ़ा दिखा, एक मुर्दा दिखा और कुमार चिंता में पड़ गये – अरे यह क्या? इन सब व्यक्तियों को ऐसा कष्ट क्यों? और तब कुमार को ज्ञात हुआ कि यह कष्ट केवल उन्ही व्यक्तियों को नहीं है जिन्हें कुमार नें देखा था। यह तो प्राणी मात्र की नियति है। और कुमार के मन में प्रश्न आया कि क्या मेरी भी यही नियति है? और उन्हें वज्र कठोर उत्तर मिला – हाँ कुमार बुढ़ापा और मृत्यु तुम्हारी भी नियति है।

उदास हो गया कुमार। अलोते, फीके लगने लगे सब भोग। नीरस हो गये रागरंग। और तभी कुमार नें एक दिन मुंडित मस्तक गैरिक वसनधारी सौम्य मूर्ति एक संन्यासी को देखा और उन्हें ज्ञात हुआ कि इस व्यक्ति ने संसार की असारता को समझकर उसे छोड़ दिया है और परम सुख और शांति के मार्ग का पथिक हो गया है।

उसे देखकर राजकुमार ठिठक गये। सावधान हो गये। आज की भाषा

में उन्हें रेड सिग्नल मिल गया। कुमार ने समझ लिया कि वे जिस रास्ते पर चल रहे हैं उसमें आगे भयंकर खतरा है। उसने समझ लिया कि कहीं कोई भूल हो गई। यात्रा की दिशा गलत हो गई। अभी यात्रा चाहे जितनी सुखद क्यों न लग रही हो किन्तु उसका परिणाम भयंकर होगा। कुमार की चेतना जागी। उसकी अन्त:प्रज्ञा ने कहा – कुमार, मनुष्य की जीवन यात्रा का गंतव्य बुढ़ापा और मृत्यु नहीं हो सकती। उसका गंतव्य तो प्रकाश और अमरत्व है। अंतरात्मा की आवाज सुनकर कुमार सावधान हुआ और दृढसंकल्प हो कर उसने अपनी जीवन यात्रा की दिशा बदल दी। और इसी जीवन में गंतव्य पर पहुँच गया।

राजकुमार सिद्धार्थ तथागत भगवान बुद्ध हो गये और आज ढाई हजार वर्षों से सारे संसार में करोड़ों लोगों को जीवनयात्रा की सही दिशा दिखा रहे हैं।

इस यात्रा की विशेषता यह है कि इसमें किसी भी पड़ाव से दिशा बदली जा सकती है।

तो हमें यह स्मरण रखना है कि यही जन्म हमारी यात्रा का प्रारंभ नहीं है। हम अनादि यात्री हैं और इसलिये अनंत में पहुँचकर उसमें विलीन होकर ही हमारी यात्रा समाप्त होगी। जब तक हम अनंत में नहीं पहुँच जाते उसमें एक नहीं हो जाते हमारी यात्रा चलती ही रहेगी। हम चलने को बाध्य रहेंगे उसका कोई विकल्प नहीं है।

यात्री तो हम हैं। चल रहे हैं, निरंतर चल रहे हैं। किन्तु सावधान रहना होगा कि हम उल्टी दिशा की ओर तो नहीं चल रहे हैं। राजकुमार सिद्धार्थ ने यौवन में ही समझ लिया था। जान लिया था कि उनकी यात्रा की दिशा उल्टी हो गई थी और जानते ही उन्होंने उसे बदल दिया था।

हमारी यात्रा की दिशा कब उल्टी कब हो जाती है? यह भूल हम कब कर बैठते हैं?

मानव देह इसलिये मिली कि हम इसके द्वारा ससीम से असीम तक पहुँच जाएँ। मृत्यु से अमरत्व की मंजिल पर पहुँच जाएँ। अन्य सभी ८४ लाख योनियाँ भोग योनियाँ हैं। देव, गंधर्व, किन्नर सभी भोग योनियाँ हैं। उन योनियों में, दूसरे शब्दों में उन वाहनों द्वारा हम यात्रा के अंतिम पड़ाव पर

नहीं पहुँच सकते। उन योनियों में केवल भोग ही हो सकता है योग नहीं।

ये सब दूसरी योनियाँ कचरा ढोने की गाड़ियाँ हैं। ये कचरे को निकालकर हमारे कर्म क्षय करती हैं बस इतना ही। इससे अधिक कुछ नहीं।

हमसे भूल कब होती है? जब हम इस सर्वश्रेष्ठ मानव देह को भी भोग योनि बना लेते हैं। जीवन में जब इन्द्रिय सुख ही सर्वस्व हो जाता है। हमारा जीवन भोग केन्द्रित हो जाता है। धन, वैभव, मान यश, पद ही जीवन का लक्ष्य हो जाता है। तब हमारी यात्रा की दिशा उल्टी हो जाती है। तब हम आगे बढ़ने के बदले पीछे चलने लगते हैं। ऊपर जाने के बदले नीचे जाने लगते हैं। ईशोपनिषद के शब्दों में हम आत्महनः हो जाते हैं। अपने आपकी हत्या करने वाले हो जाते हैं।

यह आत्महत्या ही उल्टी दिशा में चलना है। मरकर अंधकारमय असुर लोकों में जाना मूढ़ पशु योनियों में जन्म लेना। बंधनों से छूटने के बदले और अधिक उनमें जकड़ जाना। भगवान कृष्ण ने साफ साफ कह दिया (निबधाय आसुरी मता) आसुरी स्वभाव बंधन का कारण होता है। (कामभोगेषु प्रसक्ताः अशुचौ नरके पतन्ति) काम भोगों में आसक्त लोग अपवित्र नरक में गिरते हैं। इतना ही नहीं मानव देह में पशुओं के समान जीवन बिताने वालों को स्वयं भगवान ही आसुरी योनियों में फेंकते हैं।(क्षिपामी अजस्रुम अशुभान आसुरीषु एव योनिषु) १९/१६ गीता ।

इसलिये हम सबको सावधान रहना होगा कि हमारी यात्रा की दिशा कहीं उल्टी न हो जाये। अपने सामने हमेशा 'यात्री सावधान' का बोर्ड लगाकर रखना होगा।

यात्री कौन?

यहाँ दो शब्द यात्री के विषय में। एक दूसरी भूल जो यात्री से हो जाती है वह यह है कि यात्री वाहन को ही 'यात्री' समझ बैठता है। हमारा शरीर वाहन ही तो है उसके भीतर यात्री बैठा है। वह शरीर नहीं है। वह चैतन्य आत्मा है। शरीर तो रथ है रथी तो चैतन्य आत्मा ही है। (आत्मानं रथिनं विद्धि) अतः हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम शरीर को ही 'मैं' न समझ बैठें। उसे ही यात्री न समझ बैठें।

यात्री को ठीक ठीक पहिचान लेना होगा। उसे याद दिला देना होगा कि

देह मन आदि तुम्हारा वाहन है। तुम उसके मालिक हो। तुम्हें उसका उपयोग कर लेना है। वाहन बिगड़ जाय, नष्ट हो जाय उसके पहिले ही तुम्हें यात्रा पूरी कर लेनी होगी। कम से कम यात्रा समाप्त करने का प्रयत्न तो करना ही होगा। तभी जीवन यात्रा में हम आगे बढ़ सकेंगे।

यात्री अपने आपको तो पहिचानो! आत्मानं विद्धि! तुम जड़ नहीं चैतन्य हो, तुम ज्ञानस्वरूप हो। तुम्हारे भीतर अनंतशक्ति और सामर्थ्य है। तुम उसे भूल गये हो। उठो जागो। एक बार उसका स्मरण तो करो। उसका स्मरण होते ही तुम्हारे भीतर की सोई हुई शक्तियां जान उठेंगी।

गंतव्य

यात्री कहाँ खड़ा है, यह जानने के क्रम में हमने यात्री तथा यात्रा संबंधी कुछ और भी तथ्यों पर विचार किया। अब यात्रा के दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य गंतव्य पर विचार करें। क्योंकि गंतव्य का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर यात्रा करने की प्रेरणा मिलती है। गंतव्य जितना लुभावना होगा यात्रा की प्रेरणा उतनी ही अधिक होगी।

क्या मृत्यु ही जीवन का गंतव्य है? क्या वह जीवन यात्रा का अंतिम पड़ाव है? नहीं, संसार के सभी अवतार, महापुरुष ऐसा कहते हैं कि मृत्यु जीवन यात्रा का गंतव्य नहीं है।

हम सबके मन में एक प्रश्न आता है कि किसने देखा है कि मृत्यु के बाद क्या होता है? कौन कह सकता है कि मृत्यु परम शांति नहीं दे सकती, नहीं देती। कौन कहता है कि वह जीवन यात्रा का अंतिम पड़ाव नहीं है।

मित्रो इस शंका के दो समाधान हैं – पहला समाधान यह है कि इस विषय में अधिकारी पुरुषों की, शास्त्रों की बातों पर विश्वास करें। यदि हम अपना जीवन सफल करना चाहते हैं तो व्यर्थ के तर्क वितर्क में न पड़े। अपना मूल्यवान समय समय नष्ट न करें। शास्त्रों और अधिकारी पुरुषों की बातों पर विश्वास कर उसके अनुसार अपना जीवन गठन करें। इसी देह में अपनी यात्रा के चरम गंतव्य पर पहुँचने का प्रयत्न करें। यही बुद्धिमानी का काम है। जीवन यात्रा की सफलता का रहस्य है।

दूसरा समाधान जड़वादियों और नास्तिकों का है। उनकी दृष्टि में यही जन्म जीवन यात्रा का प्रारंभ है तथा मृत्यु उसका अंत। अतः जब तक जिओ

खाओ पीओ मौज करो और एक दिन मर जाओ।

ऐसे लोगों के लिये अपनी इस चर्चा का कोई महत्व नहीं है। कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान की कृपा है यहाँ हममें ऐसा कोई नहीं है।

तो आइये देखें कि जीवन यात्रा का गंतव्य क्या है? आज से हजारों साल पहिले ठेठ वैदिक युग में एक युवक, युवक क्या कहें एक कुमार यात्री ने सीधे मृत्यु के देवता साक्षात् यमराज से ही पूछ लिया कि महाराज! कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात मनुष्य का सब कुछ समाप्त हो जाता है। उसके पश्चात कोई गति नहीं, कुछ नहीं। सब कुछ शेष। और कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात भी मनुष्य का कुछ शेष रहता है। मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है। उसकी विभिन्न गतियाँ रहती हैं। आप साक्षात मृत्यु के देवता हैं इसलिये मैं आपसे ही पूछना चाहता हूँ कि आप ही बताएँ कि मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है।[२]

और उपनिषद के उस महान ऋषि ने इस रूपक कथा के माध्यम से मानव समाज के सामने सदैव के लिये मृत्यु के रहस्य को खोलकर रख दिया। जीवन यात्रा का गंतव्य निसंदिग्ध शब्दों में हमारे सामने रख दिया। नचिकेता को मृत्यु का रहस्य बताते हुये यमराज ने कहा – हमारे भीतर जो जीवात्मा है उससे अधिक शक्तिशाली और बड़ी भगवान की अचिन्तय मायाशक्ति है, किन्तु इस माया शक्ति से परे उससे बड़ा, उससे शक्तिशाली पुरुष है। इस महान पुरुष से परे उससे बड़ा, उससे शक्तिशाली और कुछ भी नहीं है वही पराकाष्ठा है, वही परमगति है।[३]

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को भी यही बात बताई। उन्होंने कहा – हे अर्जुन जिसे अव्यक्त या अक्षर कहा गया है उसे ही परमगति कहते हैं। उस गति को पाकर जीव फिर इस जन्म मरण के चक्र में नहीं फँसता। फिर उसे यात्रा नहीं करनी पड़ती। वह अपने चरम गंतव्य पर पहुँच जाता है। वह तृप्त काम और पूर्ण हो जाता है।[४]

---

२ येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह वराणामेष वरस्तृतीयः ॥१।१।२०॥ कठ.

३ महत· परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न पर किंचित्सा काष्ठा सा परा गति· ।।११।१।३।। कठ.

४ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमा गतिम्

उपनिषदों में गीता में पुराणों में, सभी धर्मशास्त्रों में इस गंतव्य की बात कही गयी है । इस गंतव्य को ठीक ठीक समझ लेना बड़ा ही उपयोगी है। गंतव्य की धारणा जितनी स्पष्ट होगी, उसके विषय में हम जितना अधिक जानेंगे, उस पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही अधिक उस गंतव्य पर पहुँचने की हमारी इच्छा होगी हमें प्रेरणा मिलेगी।

जन्म लेना ही सबसे बड़ा कष्ट है। गीता में इसे दुखालयम कहा गया। पुनर्जन्म यह दुखों का घर है । प्रत्येक यात्री को यह बात मन में गांठ बाँध कर रख लेनी चाहिये कि सबसे बड़ा कष्ट निरंतर यात्रा करते रहने में है। जब तक यात्रा समाप्त नहीं हो जाती, हम परम गंतव्य पर नहीं पहुँच जाते तब तक विश्राम नहीं मिलेगा। शांति नहीं मिलेगी।[५]

संसार में हम अभी कितने भी सुखी क्यों न हों ? हमारे पास कितनी भी सुविधायें क्यों न हों एक समय ऐसा आता है जब वे फीकी लगने लगती है। बेस्वाद हो जाती है। फिर बेचैनी, वही अशांति। इन्द्रियों द्वारा मिलने वाले जितने भी सुख हैं वे स्थायी नहीं हैं। इन सुखों के लोभ में फँसे रहने पर आवागमन के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता। और इसलिये हम कभी भी अपने गंतव्य तक नहीं पहुँच सकते। हमारी यात्रा निरंतर चलती रहेगी और हम यात्रा का कष्ट भोगते रहेंगे। चाहे हम पुण्यवान होकर स्वर्ग में जायें, पितृलोक में जायें कहीं भी जायें वह यात्रा ही होगी गंतव्य नहीं और इसलिये यात्रा का कष्ट उठाना ही पड़ेगा। भगवान ने अर्जुन से साफ साफ कह दिया कि हे अर्जुन ब्रह्मलोक से लेकर मृत्युलोक तक सभी पुनरावर्ती हैं। इन सब में आने जाने का क्रम चलता रहता है।[६]

यात्रा समाप्त होगी गंतव्य पर पहुंचकर और गंतव्य है ईश्वर प्राप्ति (माम उपेत्य) भगवान ने कहा मुझे पाकर ही पुनर्जन्म नहीं होता।

तो यह गंतव्य हुआ भगवान को पा लेना। हम बिन्दु हैं, बिन्दु से सिन्धु हो जाना यही गंतव्य है। हम अंश हैं अंश का पूर्ण में मिल जाना यही गंतव्य है। जीव भगवान का अंश है पूर्ण तो भगवान ही है। भगवान की शरण में

५. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मनः संसिद्धिं परमां गताः ।।१५।।८।।गीता

६. आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।१६।।८ गीता

जाकर ही जीव पूर्ण होता है और तभी उसकी यात्रा भी पूर्ण होती है। उसके पहिले के सभी पड़ाव चाहे जितने सुंदर और सुविधापूर्ण क्यों न हों रास्ते के पड़ाव मात्र हैं गंतव्य नहीं अतः एक न एक दिन हमें वहां से जाना पड़ेगा उसे छोड़ना पड़ेगा और फिर कष्ट होगा।

गंतव्य पर पहुँचने का नाम ही मुक्ति या मोक्ष है। यह मोक्ष मरने के बाद मिले ऐसा जरूरी नहीं है। इसी जीवन में इसी देह में मरने के पहले भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अपने गंतव्य पर पहुँच सकता है। परमानंद और पूर्णता की अनुभूति कर सकता है । मरने के पहले ही मृत्यु को जीतंकर अमर हो सकता है। भगवान बुद्ध इसी जीवनकाल में इस गतव्य पर पहुँचे और इसीलिये वे तथागत हो गये। राजकुमार वर्धमान ने अपने जीवनकाल में ही पूर्णत्व प्राप्त कर लिया और तीर्थंकर महावीर हो गये। अनादिकाल से आज तक हजारों लोग इस गंतव्य पर पहुँच चुके हैं।हजारों पहुँचने की तैयारी में हैं।

यहाँ एक प्रश्न आता है कि क्या होगा इस गतव्य पर पहुँचकर? जो लोग इस गतव्य पर पहुँच चुके हैं उन्होंने हमें बताया है कि वहाँ पहुँचने पर दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी तथा परमानंद की प्राप्ति होगी।

दुखों से कौन नहीं छूटना चाहता? असीम अनन्त आनंद कौन प्राप्त नहीं करना चाहता ? हम सभी दुखों से पूरी तरह और सदैव के लिये छूटना चाहते है। हम सभी अनतकाल तक रहनेवाला आनंद चाहते हैं। दुखों से पूरी तरह छुटकारा और असीम आनंद की प्राप्ति परम गंतव्य पर पहुँचकर ही हो सकती है उसके पहिले नहीं।

मान लीजिये कभी मन में ऐसा आये कि हम तो अच्छा जीवन बिता रहे हैं। किसी को कष्ट नहीं देते। अपने परिश्रम और कौशल से कमाते हैं। घर में सुख शांति है। अतः अन्ततः हमें यह परम सुख मिल जाय। यदि कभी मन में ऐसा लगे तो हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह परम सुख इन्द्रियों से मिलने वाला सुख नहीं है।[७] उसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह अतीन्द्रिय और बुद्धिगम्य है। उसका अनुभव तो शुद्ध और सूक्ष्म

७. सुखमात्यन्तिक यत्तदबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाय स्थितश्चलति तत्त्वत. ॥२१॥६ गीता

बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है और बुद्धि तब तक शुद्ध और सूक्ष्म नहीं हो सकती जब तक मनुष्य के मन में इन्द्रिय सुखों के प्रति पूर्ण विरक्ति न आ जाये। उसका मन एक दम अनासक्त न हो जाय।

इसलिये कभी भी जब ऐसा लगे कि हम संसार में आनंद से हैं तो तुरंत सावधान होकर भगवान कृष्ण की इस बात का स्मरण कर लेना चाहिये कि परमसुख इन्द्रिय सुखों में संतुष्ट रहते नहीं मिल सकता।

जीवनयात्रा के गंतव्य की एक और विशेष पहचान है उसे जानकर रखना चाहिये। वास्तव में वही गंतव्य का मापदंड है। और वह यह है कि गंतव्य पर पहुँच जाने के बाद संसार का कोई भी लाभ हमें उससे बड़ा नहीं लगता। उससे अधिक नहीं लगता।[८] ऐसे गंतव्य पर कौन नहीं पहुँचना चाहेगा? इसलिये हमें गंतव्य का बार बार स्मरण करना चाहिये। उस पर विचार करना चाहिये।

आप हम सभी जानते हैं कि हमारे दुखों का विशेषकर मानसिक दुखों का कारण हमारे मन की ग्रंथियाँ हैं। कुण्ठायें हैं। गंतव्य पर पहुँचने पर हमारे हृदय की सभी गाँठे खुल जायेंगी। कुण्ठायें दूर हो जायेंगी । हमारे सभी संशय और संदेह मिट जायेंगे। हृदय शुद्ध और सरल हो जायेगा । हमारे कर्म जो हमें संसार में बाँधते हैं और जन्म मरण के चक्कर में डाल देते हैं वे सभी क्षीण हो जायेंगे। समाप्त हो जायेंगे। इसी जीवन में हम सभी कर्म के बंधनों से मुक्त हो जायेंगे। ससीम से असीम हो जायेंगे। सान्त से अनन्त हो जायेंगे। ऋषियों ने डन्के की चोट से इसकी घोषणा की है।[९] (क्रमशः)

---

८. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।२२॥ ६ गीता

९. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८। २। २ मुण्डक

महायोगी पवहारी बाबा

स्वामी निर्वेदानन्द

(लेखक वशिष्ठ गुफा, ऋषिकेश के अन्तेवासी थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के महान सन्त पवहारी बाबा के जीवन पर काफी शोध करके अंग्रेजी में एक लेख लिखा जो 'प्रबुद्ध भारत' के जून १९६७ ई. अंक में और उसका हिन्दी अनुवाद 'कल्याण' के अक्टूबर ७१ अंक में प्रकाशित हुआ। स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा साहित्य के अध्येताओं को इन महान सन्त के विषय में सविस्तार जानने की इच्छा होती है, इसी कारण हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में इस लेख का पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। -सं.)

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में जन्म लेनेवाली महान सन्तों की मण्डली में उत्तरप्रदेश में गाजीपुर के समीप निवास करनेवाले पवहारी बाबा के नाम से स्वामी विवेकानन्द की जीवनी के पाठकवृन्द भलिभाँति परिचित होंगे। अवश्य ही स्वामी विवेकानन्द ने उनके सम्बन्ध में लिखे गये अपने लेख में तथा अपने पत्रों में उनके अज्ञात जीवन पर कुछ प्रकाश डाला है; पर दुख की बात है कि उनके पूर्वजों आदि के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। स्वामीजी के जीवन पर उनकी जो गम्भीर छाप पड़ी है, उसका आभास स्वामीजी की इन पंक्तियों में मिलता है – "इन पंक्तियों का लेखक दिवगत सन्त का अत्यन्त ऋणी है और ये पंक्तियाँ, चाहे ये कितनी नगण्य क्यों न हों, उसने एक ऐसे पुरुष की स्मृति में लिखी हैं, जिनकी गणना उन महान् सिद्ध पुरुषों में है, जिनके चरणों में अपनी श्रद्धा और सेवा समर्पित करने का उसे अवसर मिला है।"

निम्नलिखित पंक्तियों में उनके परिवार के लोगों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उन सन्त के जीवन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। यहाँ पर प्रसंगवश यह बात तो कही जा सकती है कि जिस घर में भूगर्भगृह में पवहारी बाबा रहते थे, वह आज भी उनके कुटुम्बियों के अधिकार में है। किन्तु उनके जीवन की घटनाओं का जो कालानुक्रम स्वामीजी के पवहारी बाबा सम्बन्धी विवरण मिलता है, उससे यहाँ दिया हुआ कालानुक्रम कुछ भिन्न है।

पवहारी बाबा का जन्म १८४० ई. में उत्तरप्रदेश में जौनपुर के निकट प्रेमपुर नामक स्थान में हुआ था। वे अपने पिता श्री अयोध्या तिवारी के, जो एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे, दूसरे पुत्र थे। उनके दो चचेरे भाई थे और एक बहन। शैशवावस्था में ही उन पर माता (चेचक) का प्रकोप हुआ, जिसके

फलस्वरूप उनकी एक आँख चली गयी। काने हो जाने पर भी तीनों भाइयों में हरभजनदास ही सबसे सुन्दर तथा गठीले शरीरवाले थे। बचपन में उनका यही नाम था। शिक्षा के लिये हरभजन अयोध्या तिवारी के छोटे भाई अर्थात् अपने चाचा लक्ष्मीनारायण के पास आये। चाचाजी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर छोटी आयु में ही तपस्वी जीवन बिताने का निश्चय करके घर से निकल आये थे। वे श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैत मत के श्री सम्प्रदायान्तर्गत बडकली शाखा के अनुयायी थे। वर्षों यात्रा करते रहने के बाद वे गाधिपुर (गाजीपुर) के दक्षिण में तीन मील दूर स्थित कुर्था ग्राम में जा बसे। यहाँ सरकार की ओर से इनको एक भूखण्ड भी मिल गया था। इस स्थान को पसन्द करने का सबसे बड़ा हेतु था, यहाँ पर गंगाजी का उत्तरवाहिनी होना। गंगा का तट आध्यात्मिक साधना के लिये अत्यन्त अनुकूल माना जाता है। वे उस समय काफी वृद्ध हो चुके थे और हरभजन को इस विचार से अपनी सहायता करने के लिये लाये थे कि उनके बाद आश्रम और वहाँ की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वही बनेगा। जब लक्ष्मीनारायण को पता चला कि हरभजन की एक आँख नहीं है, तब वे बोले, "यह एक शुभ चिह्न है। राजा रणजीतसिंह के भी एक ही आँख थी।" यह कहकर कि हरभजन में एक महान योगी बनने के लक्षण हैं, उन्होंने उनके बड़े भाई गंगा तिवारी के बदले इन्हीं को अपने पास रखना उचित समझा। उनकी भविष्यवाणी के अनुसार वह बालक आगे चलकर पार्थिव सम्पत्ति का तो नहीं, परंतु योगियों का तो राजा अवश्य बना।

लक्ष्मीनारायण ने भतीजे का उपनयन संस्कार कराकर उसकी शिक्षा का श्रीगणेश किया। निकट ही रहनेवाले एक पण्डित से वे संस्कृत पढ़ने लगे। फिर थोड़े वर्षों तक उसने विभिन्न गुरुओं से भिन्न भिन्न वेदों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। अन्त में उन्होंने विख्यात पण्डित श्री गोपाल पर्वत परमहंस से एक वर्ष तक पञ्चदशी का अध्ययन किया। अध्ययन में इन्होंने तीव्र अभिरुचि का परिचय दिया। शिक्षकों के विद्यार्थी-समूह में सबसे अधिक कुशाग्र-बुद्धि इन्हीं की थी।

बालक हरभजन आश्रम के कार्यों को करते, श्री रघुनाथजी तथा अन्य विग्रहों के लिये भोग सिद्ध करने में अपने चाचा के शिष्यों की सहायता करते और अपने चाचा की सेवा भी करते। यदि गाँव का कोई बालक आ जाता

तो वे उसके साथ खेल लेते, अन्यथा अपना समय एकान्त में गंगा के किनारे अथवा पास की वनस्थली में व्यतीत करते। ऐसा कहा जाता है कि बचपन से ही वे शान्त स्वभाव के थे। स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखित उनके जीवनवृत्त से विदित होता है कि उनकी विनोदप्रियता कभी कभी ऐसे क्रियात्मक रूप में प्रकट होती कि जिसका कठोर परिणाम उनके साथी बालकों को भोगना पड़ता था। उनके अनावृत, हँसमुख एवं क्रीड़ामय विद्यार्थी जीवन में कदाचित् ही कोई ऐसी बात दिखायी देती थी, जिससे उनके भावी जीवन की उस अगाध गम्भीरता का कुछ संकेत मिलता, जिसका पर्यवसान एक अत्यन्त आश्चर्यजनक तथा रोमांचकारी बलिदान में हुआ।

यथासमय वेदों तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद हरभजन के पिताजी उनके पास विवाह की बात करने आये। बालक नें संसार से प्राप्त होने वाले सुखों की नितान्त क्षणभंगुरता को भलिभाँति हृदयंगम करके उस आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करने निश्चय का कर लिया था, जिसे प्राप्त करने के पश्चात कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसलिये पिता के समझाने-बुझाने तथा अनुनय-विनय के उपरान्त भी उन्होंने विवाह करना एकदम अस्वीकार कर दिया और पिताजी को निराश लौट जाना पड़ा।

दिन बीतते गये। फिर एक ऐसा धक्का लगा, जिसने उनके जीवन की गति को सदा के लिये बदल दिया। सन् १८५६ में एक दिन उनके चाचा लक्ष्मीनारायणजी इस ससार से विदा हो गये। वे एक आध्यात्मिक उद्बुद्ध पुरुष थे और उनके सम्पर्क में आने से हरभजन की आन्तरिक आध्यात्मिक रुचि जाग्रत हो उठी थी। चाचाजी के साकेतगमन ने उनके जीवन की दिशा मोड़ दी। श्री रघुनाथ एवं अन्य विग्रहों की सेवा का भार अब उन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा । कुछ मास तक तो उन्होंने गाड़ी चलायी, किन्तु शान्ति मिलती न देखकर, सेवा का भार चाचाजी के अन्य शिष्यों को सौंपकर वे तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। उन्होंने पूर्व में पुरी, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारका तथा उत्तर में बद्रीनाथ – इन चारों धामों की यात्रा की। द्वारका जाते समय वे मार्ग में कुछ काल के लिये गिरनार पर्वत पर रुके, जो अवधूत गुरु दत्तात्रेय की वासस्थली कही जाती है। वहाँ एक गुफा में इनको एक योगी के दर्शन हुए, जिनको कोई नहीं जानता था। उन्होंने इनको योग की कई गुप्त बातें बताईं। हरभजन ने वहीं रहकर उनकी सेवा करने की इच्छा व्यक्त की; किन्तु

वे किसी को अपने साथ रहने की आज्ञा देने को तैयार नहीं थे। इसलिये हरभजन को वहाँ से चले आना पड़ा। पर महात्मा ने उनको यह आशीर्वाद दिया कि 'तुम एक महायोगी बनोगे और आधुनिक काल में तुम्हारी समता में कोई नहीं ठहरेगा।'

कहते हैं कि बस्ती से दूर हिमालय की एक गुफा में रहनेवाले एक महात्मा की भी इन्होंने सेवा की थी। वे महात्मा भी हरभजन से बहुत प्रसन्न हुए और हरभजन को उन्होंने कुछ ऐसी जडियाँ दीं, जिनको खा लेने से बहुत दिनों तक भूख-प्यास नहीं लगती। तीर्थयात्रा, अध्ययन तथा साधन में कुछ वर्ष व्यतीत करने के उपरान्त हरभजन लौट आये। उनके बचपन के मित्रों एवं अन्य व्यक्तियों ने उनके चेहरे पर भारी परिवर्तन देखा – मुखमण्डल ज्योति से जगमगा रहा था। यदि उनके चाचा जीवित होते तो उनको उस दीप्त ज्योति में सर्वोच्च ज्ञान की वह आभा दीख जाती, जिसे प्राचीन युग के ऋषि ने सत्यकाम के मुख पर देखा था। कदाचित उन्होंने बालक का इन शब्दों में स्वागत किया होता – वत्स ! तेरा मुखमण्डल ब्रह्मतेज से उद्दीप्त हो रहा है।

किन्तु उस समय वहाँ कोई ऐसा नहीं था, जो उनके अन्तर में जगी ज्ञान की ज्योति को जान सकता। फिर भी उनमें जो परिवर्तन हुआ था, वह उनके चतुर्दिक रहनेवाले व्यक्तियों के मन में स्वयमेव आदर का भाव उत्पन्न करा देता था। पवहारी (अब हम इसी नाम से उनका उल्लेख करेंगे, क्योंकि वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए) ठाकुर की पूजा, अतिथियों की सेवा तथा अन्य कार्यों में जुट गये। उनकी सभी बातों में एक परिवर्तन आ गया था। प्रत्येक जीवधारी को वे 'बाबा' कहते, सभी स्त्रियों को 'माताजी' तथा अपने को दास कहते। **सर्व विष्णुमयं जगत्** – यह सिद्धान्त वाक्य उनके लिये एक अपरोक्ष एवं ठोस अनुभूति बन गया था। कुछ वर्षों बाद एक दिन उनको एक काले विषधर ने काट लिया और ऐसा मान लिया गया कि वे मर चुके हैं। कई घण्टे के बाद जब चेतना लौटी, तब उनके मित्रों नें जानना चाहा कि क्या बात थी; उनका उत्तर था, "विषधर प्रियतम का दूत था।" उन्होंने बताया कि 'एक मूषक बाबा दास की गोदी में आकर गिर पड़े, जिन्हें दास ने अपने वस्त्रों में छिपा लिया। इससे उसका पीछा करनेवाले विषधर बाबा कुपित हो गये और उन्होंने आकर दास के कन्धे में काट लिया।" उनकी जागतिक दृष्टि

वेदान्त के **वसुधैव कुटुम्बकम्** सिद्धान्त की अनुगामिनी थी। एक बार आश्रम में चोर घुसे और मूर्तियों, आभूषणों आदि को चुराकर जैसे ही वे चम्पत होने वाले थे कि पवहारी बाबा कमरे में आ गये। चोर गठरी पटककर भागे। पवहारी बाबा दौड़कर उनके पास पहुँचे और अत्यन्त विनय से बोले, "आप बाबा लोग पधारे हैं; यदि आपको इन वस्तुओं की आवश्यकता है तो ये आपकी ही हैं। बाबा लोग इन्हें छोड़े क्यों जा रहे हो? इस दास से क्या अपराध हुआ है? कृपया इन वस्तुओं को लेते जाइये, ये आपकी ही हैं।" इत्यादि। उनकी दृष्टि में प्रत्येक प्राणी – चाहे वह साँप हो, चूहा हो या चोर – सभी 'बाबा' अर्थात भगवान थे।

ठाकुर की पूजा, अतिथियों को भोजन कराना तथा शास्त्रों को पढ़कर उसकी व्याख्या करना ही उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया था। संध्या के समय वे आश्रम के पास एक कँटीली झाड़ी में जाकर ध्यान किया करते थे। फिर सध्या आरती के बाद, जब सब लोग घर चले जाते, वे सारी रात गंगा के किनारे योग -साधना, प्रार्थना एवं ध्यान में बिताकर पौ फटने के पहले ही आश्रम में आकर दैनिक कार्यक्रम में निरत हो जाते। ठाकुर के लिये स्वादिष्ट सामग्री का निर्माण करके वे अतिथियों को प्रसाद के रूप में परोस देते। उनका अपना आहार केवल काली मिर्च का रस तथा दूध होता था। तभी लोगों ने उन्हें 'पवहारी बाबा' कहना आरम्भ किया – पवहारी अर्थात दुग्धाहारी (पय-आहारी)। कुछ काल तक वे केवल बिल्व पत्र का रस पीकर ही रहे।

कुछ काल के लिये वे पुन: आश्रम को छोड़कर वाराणसी चले गये। वहाँ उन्होंने एक विद्वान् संन्यासी निरंजन स्वामी से अद्वैत सिद्धान्त का अध्ययन किया। गाजीपुर के पास एक गुफा में रहनेवाले एक सन्त से उन्होंने योग के विषय में भी अपने ज्ञान में वृद्धि की। वहाँ से लौटकर उन्होंने आश्रम में एक लम्बी सुरग खुदवायी। योग-साधना करते हुए अब अपना अधिकाश समय वे इसी में बिताते।

कुछ समय बाद योग में दीक्षा लेने के लिये वे गिरनार की ओर चले। मार्ग में अयोध्या पहुँचकर उनहें पता चला कि जिन गुरु के पास वे जा रहे थे, वे समार से विदा हो चुके हैं। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अयोध्या में ही एक वैष्णव सन्त से दीक्षा लेकर वे आश्रम पर लौट आये। अपने चाचा

की भाँति वे भी सम्प्रदाय की बड़कली शाखा के अनुयायी थे। धीरे धीरे उनकी आध्यात्मिक साधनाएँ दिन-प्रतिदिन उग्रतर होती गयीं। वे गुफा में ही लगातार कई दिन बिता देते और गाँववालों की प्रार्थना पर केवल एकादशी के दिन बाहर आते थे। मन्दिर का द्वार कभी किसी दूसरे दिन नहीं खोला जाता था। गाँव के लोग दूध, फल इत्यादि लाते और बगल के कमरे में रख जाते। उनकी ख्याति फैलती जा रही थी। उनके बड़े भाई गंगा तिवारी उनकी सेवा करने के लिये कुर्था में ही आकर रहने लगे। क्रमशः उनका पखवारे में एक बार भी बाहर आना बन्द हो गया। अब वे वर्ष में एक बार बाहर आते और उस दिन एक उत्सव-सा मनाया जाता। तीर्थयात्रा करने की प्रवृत्ति उनमें फिर जगी और वे पुरी की ओर रवाना हुए। मार्ग में वे अस्वस्थ हो गये और मुर्शिदाबाद के समीप एक गाँव में ठहरे। गाँववालों ने नदी के तट पर ही एक झोपड़ी बना दी और एक भक्त ने अच्छी सेवा की। बाबाजी ने उससे बँगला सीखी और लौटते समय वे बंगाल के वैष्णव मत पर कई ग्रन्थ अपने साथ लाये। उन्होंने श्री चैतन्य चरितामृत तथा अन्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। तमिळ तथा तेलुगु का भी उनको प्रकाण्ड ज्ञान था। दक्षिण भारत के 'आळवार' नामक सन्तों की वाणी का उन्होंने मूल में ही अध्ययन किया था।

कुर्थावाली अपनी गुफा में वापस आने पर पवहारी बाबा का दर्शन प्राप्त करना कठिन नहीं था। इसलिये नित्य दूर दूर से लोग उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आने लगे। गुफाद्वार के पीछे से वे ही उनसे बातें करते तथा उनके प्रश्नों का उत्तर देते। सभी प्रकार के साधु-संन्यासी आते, जिनकी देख-भाल आश्रम की व्यवस्था करनेवाले उनके अग्रज करते। अतिथि-पूजा एक प्रमुख कार्य था। कोई बिना भोजन किये वापस नहीं जाता। इसी बीच गंगाजी अपनी धारा बदलकर किंचित पूर्व की ओर बहने लगी थीं। इस प्रकार जो जमीन गंगाजी ने छोड़ दी, उसको गंगा तिवारी ने जोतना आरम्भ कर दिया। बाद में सरकार ने वह अतिरिक्त भूमि भी आश्रम को दे दी, जिससे बिना कठिनाई के वे लोग अतिथियों का सत्कार करने में समर्थ हो गये।

बंगाल से लौटने के बाद पवहारी बाबा अपने एकान्तवास से पूर्ववत एकादशी के दिन बाहर निकलते थे। एक बार १८८४ ई. में वे नियत तिथि पर अपनी गुफा से बाहर नहीं आये और बहुत दिन भीतर ही रहे। पहले जब वे बाहर आने को होते तो बाहर के लोगों को उनकी होमाग्नि में से निकलने

वाले धुएँ को देखकर इसका पता चल जाता। वे पूजा की भी व्यवस्था करवाते तथा लोगों से द्वार के भीतर से बात करते। परन्तु इस बार कोई क्रिया देखने में नहीं आयी। लोगों ने अनुमान किया कि उन्होंने शरीर त्याग दिया होगा, परन्तु किसी का साहस नहीं होता था कि दरवाजा तोड़कर भीतर जाये। इस प्रकार दिन बीतते गये और चार-पाँच वर्षों के पश्चात् एक दिन जब घण्टावादन के साथ ठाकुरजी की पूजा चल रही थी, उसके पश्चात् ही पवहारी बाबा बाहर आये। लोगों के हर्ष का पार नहीं रहा। एक विशाल भोज का आयोजन हुआ तथा अनेक साधुओं, ब्राह्मणों और दरिद्रनारायण को भोजन कराया गया।

एक बार फिर आश्रम चहल-पहल से गूँज उठा। पवहारी बाबा प्रतिदिन शास्त्रों की व्याख्या करने लगे। एक दिन गंगातट पर अरुणोदय के पूर्व ही यौगिक साधना करते समय उन्होंने वहाँ पर एक व्यक्ति को देखा। इस विक्षेप से उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा और कई सप्ताह तक उनको अपनी साधना स्थगित रखनी पड़ी। तब उन्होंने आश्रम के भीतर ही एक कुँआ खुदवाकर वहीं स्नान करने का निर्णय लिया। कहा जाता है, सारा कुँआ उन्होंने अपने-आप ही खोद डाला था। आज भी इस कुँए का पानी अच्छा है और काम में लाया जाता है। कालान्तर में उन्होंने एक बड़ा भारी यज्ञ किया, जो महीने भर चला। इसमें भाग लेने के लिये सैकड़ों साधु-संन्यासी, गृहस्थ और विद्वज्जन वहाँ एकत्रित हुए। आश्रम के निकट ही तम्बुओं तथा कुटियाओं की एक नगरी खड़ी कर दी गयी। विद्वज्जनों ने शास्त्रीय विषयों पर विचार-विमर्श करने की योजना बनायी, जिसमें वाद-प्रतिवाद चलता था। पवहारी बाबा से भी उसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की गयी, परन्तु उनसे विनीत उत्तर यही मिला कि इस दास को क्या आता है? अन्तिम दिन बाबा ने स्वयं साधुओं के चरण धोये, उनकी पूजा की, उन्हें वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ उपहार में दीं। एक बड़ा भण्डारा करके यज्ञ सम्पन्न किया गया।

यज्ञोपरान्त पवहारी बाबा एक बार फिर अपनी कोठरी में बन्द हो गये। आश्रम के पीछे उन्होंने एक गढ्ढा खुदवा रखा था। एक दिन उन्होंने भीतर से कहा कि यदि दरवाजे के सामने गीली मिट्टी जुटा दी जाय तो यह दास कुछ काम करना चाहता है। दूसरे दिन लगभग ३० मजदूर काम पर लगाये गये। सध्या के पहले ही दरवाजे के पास उन लोगों ने गारे का अम्बार लगा

दिया और दूसरे दिन प्रातःकाल लोगों ने देखा कि सारा गारा उठ गया है तथा आश्रम की चहारदीवारी तैयार खड़ी है। रात भर में ही बाबा ने चमत्कार कर दिया था। एक घटना और उल्लेखनीय है। उन्होंने एक काठ की कुटिया बनाने को कहा। बढ़ई लग गये और एक सुदृढ़ कुटिया बनकर तैयार हो गयी। लगभग चालीस बलिष्ट व्यक्तियों ने मिलकर उसे उठाया और चहारदीवारी के उस पार उपर ही उपर ले जाया गया। भीतर से बाबा ने उसे अकेले ही नीचे उतार लिया।

स्वामी विवेकानन्द अपने गुरुभाइयों तथा अन्य व्यक्तियों को लिखे गये पत्रों में धैर्य, पवित्रता एवं तत्परता – किसी भी उद्योग में निश्चित सफलता दिलानेवाले इन तीन साधनों पर जोर देते हुए कभी थकते नहीं थे। पवहारी बाबा में ये सभी गुण प्रचुर मात्रा में थे। चाहे वे भगवान की पूजा करते या अपने बर्तन माँजते, वे हाथ में लिये हुए काम में पूर्ण रूप में तल्लीन हो जाते। वे कहा करते, ''साधन में ऐसा अनुराग और उसके करने में ऐसी सावधानी होनी चाहिये, मानो वही साध्य हो।'' इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने प्रत्येक कार्य में दक्षता प्राप्त कर ली थी। पत्थर का काम, बढ़ईगीरी, राजमिस्त्री का काम आदि अनेक धन्धे उनको आते थे और वे सभी काम पूरी दक्षता के साथ करते थे। भगवान के आभूषण बनवाने के लिये वे सुनार के पास मिट्टी के नमूने अपने हाथ से बनाकर भेजते थे। सुनार उनकी सुन्दरता पर दंग रह जाते तथा बाबा के मिट्टी के नमूनों के अनुरूप आभूषण बनाने में उनको कई बार बनाना और बिगाड़ना पड़ता था।

बाबा की शारीरिक क्षमता तथा बल अतिमानुषता की सीमा को स्पर्श करते थे। सारा गारा ढोकर एक रात में चहारदीवारी खड़ी करने तथा चालीस व्यक्तियों द्वारा उठायी हुई कुटिया को अकेले उतारने का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। एक घटना उनके चलने की गति का दिग्दर्शन कराती है। एक बार वे प्रयाग के कुम्भ मेले में बीमार पड़ गये। अच्छे होने पर वे एक रात में ही वहाँ से ११२ मील दूर कुर्थावाली अपनी गुफा में आ पहुँचे थे।

एकान्तवास के दीर्घकालों में बाबाजी विविध धार्मिक ग्रन्थों तथा लेखन सामग्री की माँग किया करते थे। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकों की स्वच्छ एवं सुन्दर अक्षरों में प्रतिलिपि की है। उनमें से कई तो जल गयीं अथवा नष्ट हो

गयीं, किन्तु कुछ अब भी आश्रम में सुरक्षित हैं। कुछ के नाम इस प्रकार हैं– श्रीधरी टीका सहित श्रीमद्भागवत, वेदान्त सूत्रों पर श्री रामानुज का श्रीभाष्य, रामकृष्ण की टीका सहित श्री विद्यारण्य की पञ्चदशी और अध्यात्म रामायण – ये सब संस्कृत में हैं तथा भक्ति पर पद्य में विचरित 'प्रेमविलास' हिन्दी में। ये सभी पत्राकार हैं। इतने बड़े ग्रन्थों को विशद अक्षरों में लिपिबद्ध करने के लिये कितना धैर्य उनमें रहा होगा ! केवल लिखना ही नहीं, जो कुछ वे करते थे, सबमें सौन्दर्य भर देते। उनकी वाणी भी बड़ी मधुर थी। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में – ऐसी मधुर जैसी कभी सुनी नहीं गयी। ऐसे असाधारण योगी के जीवन की संध्या समीप आ रही थी। अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में उन्होंने अपने को मनुष्यों की दृष्टि से अलग रखा। जब कभी वे गुफा के उपर आते, तो दरवाजे के भीतर से ही बातें कर लिया करते। परन्तु वे कभी बाहर नहीं आये। एक बार उन्होंने अपने भतीजे बद्रीनारायण से कहा, " इस दास के शरीर त्यागने के बाद तुम्हीं को पूजा का कार्य तथा इस दास की पुस्तकों की सँभाल करनी चाहिए।"

विक्रम संवत १९५५ (१८९८ ई.) ज्येष्ठ की अमावस्या, शुक्रवार के दिन की बात है। प्रत्यूष वेला में गंगा बाबा, बद्रीनारायण तथा कुछ अन्य लोग स्नान करके बाहर बैठे थे। उन्होंने गुफा के भीतर से एक भारी धुएँ की धारा निकलती देखी। उन्होंने सोचा बाबा हवन कर रहे हैं। कुछ दिन पूर्व ही भक्तगण प्रचुर मात्रा में हवन सामग्री तथा घी ले आये थे।

थोड़ी देर बाद उन्होंने लपटों को ऊपर उठते देखा। बद्रीनारायण ने चहारदीवारी के पास जाकर चिल्लाकर आग बुझाने की आज्ञा माँगी । बाबाजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब उन्होंने देखा कि आग बुझ सकने की सीमा से बाहर जा रही है, तब बद्रीनारायण ने एक पत्थर पर चढ़कर भीतर झाँका। काठ की कुटिया धू-धूकर जल रही थी। उन्होंने बाबाजी को जटा में घी डालते हुए तथा शरीर पर कुछ मलते देखा। बद्रीनारायण फिर चिल्लाये, "यदि आपकी अनुमति हो तो हम लोग आग को बुझाने का उपाय करें।" बाबाजी ने केवल सिर उठाकर उनकी ओर देखा तथा हाथ में कमण्डलु लेकर धधकती हुई कुटिया में प्रवेश कर गये। इसी बीच लपटों को देखकर बहुत से गाँववाले दौड़कर आ पहुँचे थे। बद्रीनारायण ने जो कुछ देखा था बताया; परन्तु किसी का भी साहस चहारदीवारी के भीतर जाने का नहीं हुआ। अन्त

में कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के आग्रह पर दरवाजा तोड़ा गया। अन्दर जाने पर उन्होंने पवहारी बाबा को अपने हवनकुण्ड के सामने पद्मासन में बैठे देखा। काठ की कुटिया जल रही थी। उनका शरीर भी जल रहा था। घी के कुछ टीन, हवनसामग्री तथा उनकी कुछ पुस्तकें उनके पास पड़ी थीं। थोड़ी देर बाद पवहारी बाबा का ब्रह्मरन्ध्र फट गया और उनकी इहलीला समाप्त हो गयी। उन सन्त ने, जो विनम्रता की मूर्ति थे, मरने के बाद भी किसी को कष्ट नहीं देना चाहा और आर्यों की इस अन्त्येष्टि क्रिया को अपने तन-मन से पूरी तरह सजग रहते हुए ही कर डाला। ऐसा ही उदाहरण प्राचीन काल में शरभंग मुनि ने प्रस्तुत किया था। उन सन्त के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि जिन महासिद्धों से स्नेह करने तथा जिनकी सेवा करने का सौभाग्य उन्हे प्राप्त हुआ, उनमें वे भी एक थे।

जहाँ पर उन्होंने अपना शरीर-विसर्जन किया, वहाँ आज भी उनकी स्मृति में आरोपित एक शिलालेख हम देख सकते हैं। आज वहाँ जो इमारत खड़ी है, उसे तथा आसपास की जमीन को घेरनेवाली चहारदीवारी को बाद में पवहारी बाबा के एक भक्त ने बनवाया था।

उनके जीवनकाल में बहुत से बड़े बड़े लोग उनके पास आये। उनमें सभी सम्प्रदायों के भक्त, सन्त, विचारक तथा धार्मिक सुधारवादी थे।

उनके जीवन की कुछ घटनाएँ

प्रत्येक योगी अथवा आध्यात्मिक पुरुष के अन्दर कुछ अलौकिक सिद्धियाँ रहती हैं। परंतु सच्चा योगी उनका प्रदर्शन कदाचित ही कभी करता है। फिर भी कुछ घटनाएँ घट ही जाती हैं। पवहारी बाबा तथा उनसे सम्बधित कई अलौकिक घटनाएँ सुनने में आती हैं; हम उनमें से केवल दो का ही यहाँ उल्लेख करेंगे –

महात्मा लक्ष्मीनारायण के कुर्था में बस जाने के विषय में एक कथा है। गंगा के किनारे किनारे पर्यटन करते हुए वे कुर्था पहुँचे थे। शान्त जगह थी, घना जंगल था तथा गंगा का उत्तराभिमुख होकर बहना बड़ा शुभ माना जाता था। इसलिये उनको वह जगह पसन्द आ गयी और वहाँ तीन रात रहकर तब उन्होंने आगे बढ़ने का विचार किया। पहले ही दिन, जब वे पूजा कर रहे थे, शिकार के लिये आये एक सरकारी अधिकारी तथा कुछ अन्य व्यक्तियों

ने उन्हें देखा। अधिकारी अंग्रेज था और उसने उनसे तुरन्त वहाँ से चले जाने जाने को कहा; क्योंकि वहाँ ठहरना खतरे से खाली नहीं था। लक्ष्मीनारायण ने कहा कि हमारी इच्छा यहाँ तीन रात रहने की है, इसके बाद हम चले जायेंगे। अधिकारी साधुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था, अतः उनका वहाँ रुकना उसको अच्छा नहीं लगा। उसने आदेश दिया, ''पूजा समाप्त करने के बाद चले जाओ, अन्यथा परिणाम बुरा होगा।'' घर लौटने पर अधिकारी ने देखा कि उसके घर के एक व्यक्ति को अचानक ही एक विचित्र रोग हो गया है, जिसका निदान डाक्टर लोग नहीं कर पा रहे हैं। वह बहुत चिन्तित हुआ। तब उसके चपरासी ने संकेत दिया – ''आपने एक साधु को रुष्ट कर दिया है, शायद उन्होंने शाप दे दिया हो। उनसे क्षमायाचना के सिवाय और कोई उपाय नहीं ।'' लाचार होकर अधिकारी लक्ष्मीनारायण के पास भागा हुआ आया और उनके चरणों में गिर पड़ा। सन्त यही कहते रहे – ''हमें कुछ भी नहीं मालूम, शाप देना तो हम जानते ही नहीं, अतएव हम क्या उपाय बतायें। फिर भी अधिकारी के बार-बार आग्रह करने पर प्रसादस्वरूप उन्होंने थोड़ी सी भभूति दी। जब अधिकारी घर लौटा तो यह देखकर चकित हो गया कि प्रसाद के घर पहुँचने के पूर्व ही वह व्यक्ति चंगा हो गया था। जिस रहस्यमय ढंग से रोग हुआ था, उसी रहस्यमय ढंग से वह चला भी गया। दूसरे दिन उसने जाकर लक्ष्मीनारायण से प्रार्थना की कि आप स्थायी रूप से यहीं निवास करें और उनके नाम उसने एक भूखण्ड भी लिख दिया। कुर्था में लक्ष्मीनारायण जी का निवास इस प्रकार घटित हुआ।

पवहारी बाबा के विषय में हम निम्नलिखित घटना का उल्लेख करना चाहेंगे – एक बार एक बृहत् भण्डारे का आयोजन हुआ, जिसमें बहुसंख्यक साधु सम्मिलित होने जा रहे थे। दरवाजे के पीछे से ही पवहारी बाबा सारी तैयारी का निर्देशन कर रहे थे। जब भण्डारे को केवल एक सप्ताह रह गया, तब उनके भाई गंगा तिवारी ने उनको सूचना दी, ''हम लोग कुछ कुँए खोदने की बात सोच रहे हैं, क्योंकि गंगाजी के दूर होने के कारण साधुओं को नहाने-धोने में असुविधा होगी। भोजन-सामग्री सिद्ध करने के लिये भी जल का निकट होना आवश्यक है। ग्रीष्मऋतु का मध्य है, अतः गंगा से जल लाने का प्रश्न ही नहीं उठता। तप्त बालुकामय लम्बे मार्ग को किस प्रकार तय किया जायगा? '' पवहारी बाबा ने पूछा ''तुमने गंगा माता को निमंत्रण दिया है?''

उन लोगों से नकारात्मक उत्तर मिलने पर उन्होंने आग्रह किया –"ऐसा अवश्य होना चाहिये था" और उनके आदेशानुसार उनके भाई ने प्रचुर मात्रा में मिष्ठान्न, फल, एक अच्छी साड़ी, पुष्पमाला तथा अन्य पूजन-सामग्री लेकर नाव द्वारा बीच धारा में जाकर गंगा माता की पूजा की। उत्सव की शोभा बढ़ाने के लिये पधारने की लिखित प्रार्थना के साथ सारी सामग्री को उन्होंने पयस्विनी में विसर्जित कर दिया। निस्सन्देह कुछ लोग इस घटना पर हँसे। किन्तु उनको पवहारी बाबा की वाणी पर विश्वास था। अब केवल तीन दिन रह गये थे। गंगा बाबा चिन्तित हो उठे। किन्तु पवहारी बाबा ने उनके भय को शान्त किया। आश्रम के सामने एक सूखा नाला था, जिसमें वर्षा के दिनों में दस मील की दूरी से पानी बहकर आता था और आश्रम से आधा मील उत्तर की ओर गंगाजी में गिरता था। यह नाला आज भी देखा जा सकता है। जब गंगाजी में बाढ़ आती है, नाले में पानी चढ़कर काफी दूर तक ऊपर आ जाता है। किन्तु गर्मी के दिनों में तो नहर में गंगा के पानी के चढ़ने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अब चाहे पवहारी बाबा की प्रार्थना का फल हुआ हो अथवा उनकी सिद्धि का प्रताप रहा हो, गंगाजी क्रमशः पश्चिम की ओर बढ़कर थोड़ा थोड़ा करके नाले में चढ़ने लगीं और तीसरे दिन, जिस दिन भण्डारा था, नाला लबालब भर गया। भण्डारा बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन नाला पुनः सूख गया। अपने लाड़ले के उत्सव की शोभा बढ़ाने के लिये गंगामाता को आना ही पड़ा।

हम देख चुके हैं कि पवहारी बाबा सबमें भगवत्ता का दर्शन करते थे और सबको 'बाबा' कहकर पुकारते थे। उनके भूघरे में विषधर सर्प तथा चूहे रहते थे। जन्मजात शत्रु होते हुए भी वे उनकी उपस्थिति में वैरविरहित होकर रहते थे। जिस दिन पवहारी बाबा ने अपना शरीर विसर्जन किया, उस दिन अन्दर जाने पर लोगों ने देखा कि एक ही प्याले में से एक नाग और एक चूहा दूध पी रहे थे। पतञ्जलि का सूत्र – **तत्सन्निधौ वैरत्यागः** – चरितार्थ हो रहा था। लोग कहते हैं आज भी उस गुफा में विषधर रहते हैं और कोई भी भीतर नहीं जाता। जिस वेदी पर पूजा के विग्रह विराजित हैं, वह गुफा के द्वार के समीप ही है, जो केवल काठ के कुछ पटरों से ढँका रहता है। पुजारी लोग वहीं बैठकर पूजा-आरती करते हैं, किन्तु कभी नाग वहाँ नहीं आता। बस, एक या दो बार जब गुफा के भीतर जाने की चेष्टा की गयी, तब लोगों

ने फुफकार सुनी और वापस भागे। इस प्रकार आज वह पृथ्वी के नीचे की सुरग, जिसमें वे महान सन्त रहे और जहाँ उन्होंने अपने शरीर को अग्नि में होम दिया – एक रहस्य की वस्तु बनी हुई है, क्योंकि उसमें प्रवेश करने का साहस किसी में नहीं ।

संसार के लिये ऐसे सन्तों के जीवन का महत्व असीम है, चाहे बाहर से देखने में वह भले ही अनुपयोगी प्रतीत हो; क्योंकि विवेकानन्द से यह पूछने पर कि 'संसार का उपकार करने के निमित्त आप बाहर निकलकर सबको उपदेश क्यों नहीं करते?' पवहारी बाबा ने स्वयं कहा था, "क्या तुम्हारी यह धारणा है कि शारीरिक सेवा ही एकमात्र सेवा है? क्या शारीरिक चेष्टा के बिना ही एक आत्मा दूसरी आत्माओं की सेवा नहीं कर सकती?"

अलोकसामान्यं अचिन्त्यहेतुकं
द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।।

– मन्दबुद्धि के लोग महात्माओं के लोकोत्तर चरित्र को समझने में असमर्थ होते हैं और इस कारण उनकी निन्दा किया करते हैं। (कालिदासकृत कुमारसम्भव, ५/७५)

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ।।

– लोकोत्तर महापुरुषों का चरित्र भला कौन समझ सकता है? उसमें कभी वज्र से भी अधिक कठोरता और कभी कुसुम से भी बढ़कर कोमलता परिलक्षित होती है। (**भवभूतिकृत उत्तररामचरित, २/७**)

श्री चैतन्य महाप्रभु (२८)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

चैतन्यदेव के अन्तरंगों में अनेक लोग तीक्ष्णदृष्टि, बुद्धिसम्पन्न और विचारवान थे। वे लोग एक ओर जैसे अद्‌भुत त्यागी-तपस्वी थे, वैसे ही दूसरी तरफ लौकिक व्यवहार में भी निपुण थे। चैतन्यदेव के संन्यास के पश्चात् वे लोग उनके साथ साथ पुरी तक आये थे और तब से वहीं रहकर उनकी सेवा-परिचर्चा में मनोनियोग करते थे। तीक्ष्ण समालोचक नैष्ठिक ब्रह्मचारी पण्डित दामोदर स्वरूप भी ऐसे लोगों में से एक थे। दामोदर की मधुर समालोचना पर परमानन्दित होकर चैतन्यदेव परिहासपूर्वक कहते, "मैं एक संन्यासी हूँ और दामोदर ब्रह्मचारी हैं; मेरे उपर वे सदा अपना वाक्यदण्ड उठाये ही रहते हैं।" चैतन्यदेव के चालचलन और बातचीत पर आक्षेप करके चैतन्यदेव के अकलंक शुभ चरित्र पर कभी कोई बिन्दु मात्र भी कालिमा न लगा सके, इस ओर दामोदर की सदा तीक्ष्णदृष्टि बनी रहती थी।

एक बार पुरी के ही एक अल्पवयस्क पितृहीन ब्राह्मण बालक ने चैतन्यदेव के पास आना-जाना प्रारम्भ किया। सुन्दर सुशील बालक के भक्तिभाव पर मोहित होकर महाप्रभु भी उसके प्रति अपना स्नेह और अनुग्रह व्यक्त करते थे। पितृहीन वह बालक संन्यासी का स्नेह पाकर उनके प्रति अतीव आकृष्ट हुआ और उनके पास बारम्बार आने लगा। बालक का इस प्रकार आना तथा चैतन्यदेव के साथ मिलना-जुलना दूरदर्शी दामोदर को पसन्द न था। कुछ काल बाद जब दामोदर को पता चला कि बालक की विधवा माता भक्तिमती होकर भी कम आयु की तथा परमसुन्दरी है, तब उन्हें चुप बैठना उचित नहीं लगा। बालक के साथ संन्यासी का ज्यादा प्रेम देखने से लोगों के मन में सन्देह का उदय होना स्वाभाविक है। अपने प्राणाधिक प्रिय चैतन्य-चन्द्र में कलंक की आशंका से दामोदर ने महाप्रभु को बालक के साथ अधिक मेलजोल रखने से मना किया। उन्हें विशेष रूप से सावधान करते हुए स्पष्टवक्ता दामोदर बोले, "इतने बड़े पण्डित होकर भी आप विचार क्यों नहीं करते ? विधवा ब्राह्मणी के उस पुत्र के प्रति आप

इतना स्नेह क्यों दिखाते हैं ? यद्यपि वह ब्राह्मणी सती और तपस्विनी है, तथापि सुन्दरी युवती होना ही उसका एक दोष है। आप भी युवा और परम सुन्दर हैं, अतः लोगों को कानाफूसी करने का मौका ही आप क्यों देते हैं ?'' दामोदर की दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता और असीम प्रीति देखकर चैतन्यदेव का अन्तर पुलकित हो उठा। उन्होंने दामोदर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए भक्तों के समक्ष उनकी विशेष प्रशंसा की और उस बालक से सम्पर्क पूर्णतः त्याग दिया।

इस घटना से चैतन्यदेव के अन्तर में एक ओर जहाँ दामोदर के प्रति गहन श्रद्धा-विश्वास का उदय हुआ, वहीं एक दूसरा विचार भी उत्पन्न हुआ। दामोदर की तीक्ष्ण दृष्टि यहाँ तो उनकी रक्षा कर रही थी, परन्तु नवद्वीप के मिश्र-परिवार में यदि कहीं कुछ हो जाये तो ? वहाँ पर तो ऐसा कोई बुद्धिमान संरक्षक है नहीं ! एक दिन महाप्रभु ने दामोदर को एकान्त में बुलाकर अपने अन्तर का भाव व्यक्त किया और उनसे नवद्वीप जकर शचीदेवी के पास जाकर रहने का विशेष अनुरोध करते हुए बोले, ''तुम्हारे अतिरिक्त मुझे कोई भी उनका (मेरी माता का) रक्षक नहीं दिख पड़ता। तुमने स्वतः प्रवृत्त होकर मुझे सावधान किया, अतः मेरे गणों में तुम्हारे समान निरपेक्ष अन्य कोई नहीं है और निरपेक्ष हुए बिना धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। मुझसे जो नहीं हो पाता, वह भी तुमसे हो जाता है। अन्यथा दूसरा कौन मुझे दण्डित कर सकता था! तुम मेरी माता के घर जाकर उनके चरणों में निवास करो। तुम्हारे रहते वहाँ पर कोई भी स्वच्छन्द आचरण नहीं कर सकेगा। बीच बीच में कभी मुझसे मिलने को आ जाना और तदुपरान्त शीघ्र लौट जाना। मेरी माता को मेरा कोटि कोटि नमस्कार कहना और मेरी कुशलता का संवाद देकर उन्हें आनन्द प्रदान करना।''

चैतन्यदेव के साग्रह अनुरोध को दामोदर टाल नहीं सके। एक शुभ दिन, श्री जगन्नाथ को साष्टांग प्रणाम और उनके आशीर्वाद की याचना करने के बाद उन्होंने नवद्वीप की ओर प्रस्थान किया। विदा के समय चैतन्यदेव ने उन्हें प्रेमालिंगन में बाँधकर उनके प्रति विशेष स्नेह-प्रीति का प्रदर्शन किया। फिर उनके साथ अपनी माता तथा भक्तों के लिए उन्होंने अलग अलग महाप्रसाद भेजने की व्यवस्था की।

नवद्वीप पहुँचकर दामोदर ने शचीदेवी के चरणों में दडण्वत् प्रणाम किया और तदुपरान्त उन्हें चैतन्यदेव की इच्छा बतायी। इस पर वृद्धा के अन्तर में अतीव आनन्द का संचार हुआ। संन्यासी होकर भी निमाई को उनके कल्याण की कितनी चिन्ता है यह जानकर शचीमाता का हृदय वात्सल्य-स्नेह से विगलित हो उठा। दामोदर ने क्रमशः अद्वैताचार्य तथा अन्य भक्तों के साथ भेंट करके उन्हें चैतन्यदेव की शुभकामना का सन्देश दिया। अपने प्रति संन्यासी का अहेतुक प्रेम देखकर सभी अतीव उल्लसित हुए और कृतज्ञतापूर्वक उन्होंने दामोदर का सेवा-सत्कार किया। थोड़े दिनों के अन्दर ही दामोदर ने चैतन्यदेव की इच्छानुसार सभी विषयों की सारी जानकारी प्राप्त कर ली और उनके निर्देशानुसार तथा शचीदेवी व विष्णुप्रिया की देखरेख में, सभी विषयों में सुव्यवस्था हो गयी। दामोदर के समक्ष कोई भी स्वतंत्र नहीं था। सभी लोग उनके भय से संकोचपूर्वक व्यवहार करते थे। भक्तों में यदि वे किसी को थोड़ा-सा भी मर्यादा का उल्लंघन करते देखते, तो अपने वाक्यदण्ड की सहायता से वे पुनः मर्यादा स्थापित कर देते थे।

अब से दामोदर पण्डित नवद्वीप के निवासी होकर भी प्रतिवर्ष रथयात्रा के अवसर पर गौड़ीय भक्तों के साथ पुरी जाते और चैतन्यदेव के साथ मिल आते। उनके मुख से नवद्वीप का सारा संवाद पाकर महाप्रभु का मन निश्चिन्त हो जाता। और फिर जब वे पुरी से लौटकर शचीदेवी को चैतन्यदेव का प्रणाम, कुशलता का समाचार और उनकी मातृभक्ति के बारे में बताते तो वृद्धा के भी आनन्द की सीमा न रहती।

प्रसंग आ जाने के कारण यहीं पर हम एक अन्य विषय का भी उल्लेख कर लेते हैं। जब मिश्र परिवार के पुराने सेवक ईशान के लिये वृद्धावस्था तथा शारीरिक दुर्बलता के चलते सारा कार्य ठीक ठीक सम्पन्न कर पाना कठिन हो गया, तब चैतन्यदेव की अनुमति पाकर वंशीवदन ठाकुर नामक नवद्वीपवासी एक अल्पवयस्क भक्त ब्राह्मणकुमार को ईशान के सहकारी के रूप में मिश्रगृह में सेवाधिकार प्राप्त हुआ था। वंशीवदन अतीव सौभाग्यवान थे, विष्णुप्रिया देवी ने विशेष कृपापूर्वक स्वयं ही उन्हें दीक्षा प्रदान की थी। विवाह करके गृहस्थाश्रम स्वीकार करने के बावजूद वंशीवदन का मन-प्राण शची-विष्णुप्रिया की सेवा में ही समर्पित था। मिश्र-भवन के समीप हीं उनका पैतृक निवास था, परन्तु वे अपने घर-बार की कोई खोज-खबर नहीं

लेते थे। उनके सम्पत्ति आदि की देखभाल भी उनके भाई-बन्धु ही किया करते थे। इस प्रकार वंशीवदन को सेवाधिकार मिला था, तथापि दामोदर ही मिश्र-गृह के संरक्षक और व्यवस्थापक थे। वहाँ उन्हीं के निर्देशानुसार सब कुछ सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न होता था।

चैतन्यदेव के उपदेशानुसार कुछ काल व्रजभूमि में निवास करने के पश्चात सनातन के मन में उनका दर्शन करने की प्रबल आकांक्षा का उदय हुआ। भाइयों के साथ मिलने की भी उनकी इच्छा थी, अतः रूप और अनुपम के पुरी जाने का संवाद पाकर वे भी उसी ओर रवाना हुए। चैतन्यदेव जिस मार्ग द्वारा काशी से पुरी को गये थे, सनातन की भी उसी पथ से जाने की अभिलाषा थी। दुर्गम मार्ग के दुख-कष्टों की परवाह न करते हुए, पता लगा कर वे उसी पथ पर चल पड़े। राजबन्दी होने के कारण सम्भवतः सनातन के लिए गौड़ के रास्ते जाना निरापद भी नहीं था। अस्तु। भगवान का नाम लेते हुए सुदीर्घ पथ पारकर, उन्होंने क्रमशः प्रयाग व काशी-दर्शन किया और तदुरान्त झाड़खण्ड अंचल में पहुँचकर सनातन ने जगल में प्रवेश किया। रास्ता दुर्गम था, भिक्षा की असुविधा थी, अतः कभी आधे पेट तो कभी खाली पेट बड़े कष्टपूर्वक चलते चलते उनका स्वास्थ्य बड़ा खराब हो गया। लगता है उस समय ऋतु भी अनुकूल नहीं थी, अतः जलवायु के दोष से उनके शरीर का रक्त दूषित हो गया और उनके शरीर में भयकर खुजली हो गयी। सुख-दुख में समान रूप से निर्विकार होकर भी सनातन ने सोचा कि यह अशुद्ध और मवाद से भरा शरीर लेकर चैतन्यदेव के पास जाना उचित नहीं होगा। फिर महाप्रभु जगन्नाथजी के मन्दिर के समीप ही निवास करते हैं और जगन्नाथ के सेवकगण भी उधर से होकर सदा आना-जाना करते रहते हैं। ऐसी अवस्था में उनसे स्पर्श हो जाने पर भी महा अकल्याण होगा। अतः सनातन ने वहाँ जाना उचित नहीं समझा। फिर ऐसा अशुद्ध शरीर बनाए रखना भी ठीक नहीं है और देह को त्याग देना ही श्रेयस्कर होगा। देह को विसर्जित करने का उन्होंने एक उपाय भी निश्चित कर लिया। रथयात्रा का उत्सव आसन्न था। उन्होंने सोचा था कि पुरी जाकर वे दूर से चैतन्यदेव का दर्शन कर लेंगे, तत्पश्चात यात्रा के दिन रथोपविष्ट जगन्नाथजी का चन्द्रमुख देखते हुए रथचक्र के नीचे देह त्याग देंगे। ऐसा सकल्प करके सनातन आनन्दपूर्वक पथ चलने लगे और यथासमय

पुरी पहुँचकर पूछताछ करते हरिदास की कुटिया में जा पहुँचे।

भक्तिपूर्वक हरिदास की चरण-वन्दना करने के बाद सनातन ने उनसे पूछकर चैतन्यदेव का समाचार जान लिया। सनातन को देखते ही हरिदास के अन्तर में अतीव उल्लास का उदय हुआ और परिचय जानने के पश्चात तो उनके आनन्द सी सीमा नहीं रही। उन्होंने सनातन को बैठाकर कहा कि चैतन्यदेव मन्दिर गये हैं और प्रभु का दर्शन करके थोड़ी देर में यहाँ आयेंगे। सनातन उत्कण्ठित होकर राह देखने लगे और कुछ काल बाद ही उनके चिराराध्य चैतन्यदेव उन्हें नयनगोचर हुए। उनका दर्शन पाते ही सनातन भावविह्वल होकर भूमि पर दण्डवत् गिर पड़े। हरिदास के आगे बढ़कर चरण-वन्दना करने पर महाप्रभु ने उनका प्रेमालिंगन किया। सनातन के प्रति उनकी दृष्टि आकर्षित करते हुए हरिदास ने कहा, ''सनातन आपको नमस्कार कर रहे हैं।'' सनातन का नाम सुनते ही चैतन्यदेव चमत्कृत हो गये, फिर उत्फुल्ल हृदय के साथ वे अपनी भुजाएँ फैलाकर सनातन को आलिंगन करने के लिये आगे बढ़े । इस पर सनातन पीछे की ओर भागते हुए कहने लगे, "प्रभो ! मैं आपके पाँव पड़ता हूँ, कृपया मेरा स्पर्श न करें। एक तो मैं वैसे ही नीच व अधम जाति का हूँ और दूसरे मेरे शरीर से मवाद बह रहा है।'' परन्तु महाप्रभु भला कहाँ सुनने वाले थे, अग्रसर होकर उन्होंने सनातन को सीने से लगा लिया। अपने शरीर का रक्त-पीब उनके श्रीअंग में लगते देखकर सनातन के अन्तर में भीषण दुःख का संचार हुआ और वे हाय हाय करने लगे। परन्तु चैतन्यदेव के अन्तर में परम आनन्द का उद्रेक होने के कारण उनके मुखमन्ण्डल पर प्रेम की स्निग्ध ज्योति, मृदु-मधुर हास्य की रेखा दीख पड़ी।

सनातन को खींचकर अपने बगल में बैठाने के बाद महाप्रभु ने उनका कुशल-मंगल पूछा और तदुपरान्त रूप का प्रसंग उठने पर बोले कि वे अतीव आनन्दपूर्वक वहाँ दस महीने बिताकर कुछ ही काल पूर्व गौड़ देश को गये हैं। फिर अनुपम के देहत्याग का समाचार देते हुए चैतन्यदेव ने उनकी अतुलनीय रामभक्ति की बड़ी प्रशंसा की। रूप के साथ भेंट न होने तथा स्नेहभाजन छोटे भाई की मृत्यु के फलस्वरूप सनातन का चित्त व्यथित हुआ तथापि महाप्रभु के मुख से अपने भाइयों की प्रशंसा सुनकर उन्हें बड़ी दिलासा मिली। अपने छोटे भाई की भक्तिनिष्ठा का परिचय देते हुए सनातन

बोले, ''अनुपम की बाल्यकाल से ही रघुनाथजी के प्रति अपार भक्ति और सुदृढ़ निष्ठा थी। करुणासिन्धु श्रीरामचन्द्र के प्रति उसके आन्तरिक भाव की परीक्षा के लिये एक बार हम लोगों ने उसे कहा था, 'अनुपम, तुम श्रीरामचन्द्र का चिन्तन छोड़कर श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करो, ऐसा होने पर हम तीनों भाई परम आनन्दपूर्वक एक साथ जीवन बिता सकेंगे। भाइयों के बीच अलग अलग इष्ट होने से असुविधा होती है।' हमारे अनुरोध को टालने में असमर्थ होकर अनुपम ने आखिरकार कृष्ण-भजन करना स्वीकार कर लिया। परन्तु अनुपम को इस पर प्रसनन्ता नहीं थी। रघुनाथ को अपने अन्तर से निकालने में असमर्थ होकर उसकी सारी रात रोने में बीत गयी। दूसरे दिन सुबह होते ही वह आँखों में आँसू भरे हमारे पास आकर कातर स्वर में कहने लगा, 'भैया, मेरा मस्तक तो चिरकाल के लिए रघुनाथ के पादपद्म में समर्पित हो चुका है, अब वापस लेने का कोई उपाय नहीं। मैंने इसके लिए बड़ा प्रयास किया, परन्तु सब विफल सिद्ध हुआ। मुझे क्षमा कीजिये।' उसकी इष्टनिष्ठा देखकर हम लोग पुलकित हो गये और उसे सीने से लगाकर हमने अपने को धन्य माना। तदुपरान्त उसे सान्त्वना देते हुए उसकी इष्टनिष्ठा की प्रशंसा करके मैंने कहा, 'भाई, तुम निश्चिन्त होकर अनन्य चित्त से चिरकाल तक श्रीरामचन्द्र को भजो। इससे हमें परम आनन्द होगा। केवल तुम्हारी परीक्षा लेने के हेतु ही हमने वैसी बात कही थी।''

सनातन के मुख से अनुपम की इष्टनिष्ठा की बात सुनकर चैतन्यदेव अतीव प्रसन्न हुए और उसकी खूब प्रशंसा करते हुए बोले, ''एक बार मैंने भी इसी तरह परीक्षा करने के लिए रामगतप्राण भक्ताग्रणी मुरारी गुप्त से राम को छोड़कर श्याम का भजन करने को कहा था। मेरे कथन की अवहेलना न कर पाकर गुप्त ने राम को छोड़कर कृष्ण को भजने का प्रयास किया, पर कर नहीं सके। मुरारी ने जब मुझे कातरतापूर्वक अपनी अक्षमता की बात बतायी, तो मैंने उनके अनन्य भक्ति की विशेष प्रशंसा करते हुए उन्हें सान्त्वना प्रदान की थी।'' भगवान की कृपा पाने के लिए इस प्रकार की एकागी भक्ति की परम आवश्यकता का उल्लेख करते हुए महाप्रभु ने सनातन से कहा, ''वही भक्त धन्य है जो प्रभु के चरण नहीं छोड़ता और वे ही प्रभु धन्य हैं, जो अपने भक्त को नहीं छोड़ते। दुर्भाग्यवश यदि सेवक कभी अन्य स्थान पर चला भी जाये, तो वही स्वामी धन्य है जो उसके बाल

पकड़कर खींच लाता है।"

चैतन्यदेव ने पुरीवासी भक्तों के साथ सनातन की पहचान करा दी और उनके भक्तिवैराग्य तथा चरित्रमाधुर्य पर सबका अन्तर बड़ा प्रसन्न हो उठा। श्री रूप गोस्वामी के समान ही वे भी हरिदास की कुटिया में निवास करते थे और गोविन्द प्रतिदिन उनके लिए भी महाप्रसाद पहुँचा जाते थे। चैतन्यदेव नित्यप्रति मन्दिर से लौटकर उस कुटिया में आकर उन लोगों से मिलते और मन्दिर में जो उन्हें उत्तम प्रसाद्र दिया जाता उसे बड़ी भक्ति के साथ लाकर प्रीतिपूर्वक दोनों को उपहार के रूप में दे देते। श्री जगन्नाथ-मन्दिर-शिखर के चक्र का दर्शन, समुद्रस्नान, महाप्रसाद-ग्रहण और चैतन्यदेव तथा भक्तों के संग परमानन्दपूर्वक पुरी में निवास करते हुए भी सनातन ने अपने देहत्याग का संकल्प छोड़ा नहीं था।

शास्त्र और लोकाचार के मर्यादा-रक्षण हेतु श्रीरूप, सनातन और हरिदास आदि महापुरुषगण स्वेच्छया ही मन्दिर में नहीं जाते थे। उस काल में प्रचलित प्रथा के अनुसार वे लोग मन्दिर में प्रवेश करने के अनधिकारी थे। श्री जगन्नाथदेव के प्रति अन्तर में असीम भक्तिश्रद्धा का पोषण करते हुए भी उन लोगों ने कभी प्रचलित शास्त्रीय अथवा लौकिक विधान के उल्लंघन का प्रयास नहीं किया। ऐसा लगता है कि चैतन्यदेव ने भी कभी इन विषयों में बलपूर्वक हस्तक्षेप नहीं किया था। अन्यथा, उस समय उनका वहाँ जैसा प्रबल प्रभाव था, उसके द्वारा वे अनायास ही उन भक्तों के लिए मन्दिर के द्वार उन्मुक्त करा सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं महसूस हुई थी। दूर से मन्दिर के चक्र का दर्शन करके ही वे लोग भावविभोर हो जाते, प्रेमाश्रु से वक्षस्थल को भिगोते हुए धरती पर लोट जाते। सर्वव्यापी प्रभु किस प्रकार अपने इन परमप्रिय भक्तों की मनोवांछा पूर्ण करते हैं, हम क्षुद्रदृष्टि लोग भला उसे किस प्रकार समझेंगे ? विनम्रता की प्रतिमूर्ति ये तीनों भक्त चैतन्यदेव के निवासस्थान पर इसलिए नहीं जाते थे कि कहीं वहीं आना-जाना करनेवाली जगन्नाथजी की सेवकमण्डली से उनका अंगस्पर्श न हो जाय। (क्रमशः)

❑

'निराला' की स्मृतियों में स्वामी प्रेमानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

महाकवि निराला के पिता पं. रामसहाय त्रिपाठी मूलत: उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के गढ़कोला ग्राम के निवासी थे। वे बंगाल के मिदनापुर जिले के महिषादल स्टेट में जाकर नौकरी करते थे और वहीं बस गये थे। १८९६ ई. की बसंत पंचमी के दिन महिषादल में ही निराला का जन्म हुआ। १९०८ ई. में उनका विवाह हुआ और इसके कुछ वर्ष बाद उन्होंने पत्नी की प्रेरणा से हिन्दी सीखनी प्रारम्भ की। उन्हीं दिनों भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य स्वामी प्रेमानन्दजी का महिषादल में आगमन हुआ। उनके सान्निध्य से निराला के जीवन को एक नई दिशा मिली।

स्वामी प्रेमानन्दजी की इस यात्रा के विषय मे ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य द्वारा लिखित बँगला ग्रन्थ 'प्रेमानन्द-प्रेमकथा' में निम्नलिखित विवरण प्राप्त होता है – "इसी वर्ष ठाकुर के उत्सव में भाग लेने बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) "मेदिनीपुर गये (३ मार्च, १९१७ ई.)। उंनके साथ अक्षरानन्द, वरदानन्द, उमानन्द तथा ब्रह्मचारी यतीश (रामानन्द) भी गये थे। वरदानन्द बताते हैं – 'मेदिनीपुर के उत्सव में एक दिन दरिद्रनारायण सेवा हुई। बाबूराम महाराज बोले, 'चल नारायण-सेवा देख आऊँ।' मैं उनके साथ गया। भक्त लोग भी थे। लगा कि सेवा देखते देखते वे भावाविष्ट हो गये हैं। मैंने देखा कि दोनों हाथों से वे दबा-दबाकर मन को शरीर में लाने का प्रयास कर रहे हैं। विभिन्न प्रकार के अस्वच्छ लोग बैठकर भोजन कर रहे थे, उन्होंने उन्हीं में से एक व्यक्ति के पत्तल से दो-एक दाने उठाकर अपने मुख में डाल लिए। हमारे 'यह क्या करते हैं, यह क्या करते हैं?' – कहकर मना करने पर वे बोले, 'नारायण का प्रसाद है'।" सम्भवत: यह महिषादल की घटना का ही वर्णन है, क्योंकि वह स्थान मेदिनीपुर जिले के अन्तर्गत ही आता है और अलग से उनके महिषादल जाने का उल्लेख उनकी किसी जीवनी में उपलब्ध नहीं होता।

निराला ने स्वामी प्रेमानन्दजी के महिषादल आगमन का वर्णन काफी विस्तार से किया है। स्वयं को भक्त के रूप में निरूपित करते हुए वे अपनी 'भक्त और भगवान' कथा में लिखते हैं –

"उन्हीं दिनों श्री परमहंसदेव के शिष्य स्वामी प्रेमानन्दजी को राजा के

दीवान अपने यहाँ ले आये। राजा की परमहंसदेव के शिष्यों पर विशेष श्रद्धा न थी। वह समझते थे, साधु-महात्मा वह है ही नहीं, जिसके तीन हाथ की जटा-चिमटा न हो, चिलम भी होनी चाहिए और धूनी भी, तभी राजा भक्तिपूर्वक गाँजा पिलाने को राजी होते। परन्तु राजा के पढ़े-लिखे नौकर पुराने महात्माओं को जैसा घोंघा समझते थे, राजा को उससे बढ़कर खाजा।

''स्वामी प्रेमानन्दजी का बड़े समारोह से स्वागत हुआ। भक्त (निराला) भी था। दीवान था। दीवान साहब भक्त की दीनता से बड़े प्रसन्न थे। भक्त ने स्वामीजी की माला तथा परमहंसदेव की पूजा के लिए खूब फूल चुने। स्वामीजी मालाओं से भर गये। हँसकर बोले – 'तुम लोगों ने मुझे ''काली'' ही बना दिया।' भक्त नहीं समझा कि उस दिन उसके सभी धर्मों का वहाँ समाहार हो गया – ब्रह्मचारी महावीर, उनके राम, देवी और समस्त देव-दर्शन उन जीवित संन्यासी में समाकृत हो गये।

''बड़ी भक्ति से परमहंसदेव का पूजन हुआ। दीवानजी कबीर साहब का बँगला अनुवाद स्वामीजी को सुना रहे थे, राज्य के अच्छे-अच्छे कई अफसर एकत्र थे, भक्त तुलसीकृत रामायण सुनाने को ले गया और स्वामीजी की आज्ञा पा पढ़ने लगा। स्थल वह था, जहाँ सुतीक्ष्ण रामजी से मिले हैं, फिर अपने गुरु के पास उन्हें ले गये हैं। स्वामीजी ध्यानमग्न बैठे सुनते रहे – 'श्यामतामरसदाम-शरीरम् ; जटा-मुकुट-परिधन-मुनि-चीरम्' आदि। साहित्य महारथ गोस्वामी तुलसीदास की शब्द-स्वर-गंगा बह रही थी, लोग तन्मय मज्जित थे। स्वामीजी के भाव का पता न था। भक्त कुछ थक गया था। पूर्ण-विरामवाला दोहा आया, स्वामीजी ने बन्द कर देने के लिए कहा। फिर तरह-तरह के धार्मिक उपदेश होने लगे। स्वामीजी ने दीवान साहब से हर एकादशी महावीर-पूजन और रामनाम-संकीर्तन करने के लिए कहा।''

❑❑❑

इसी घटना को निराला ने काफी विस्तारपूर्वक अपनी 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज' नामक एक सुदीर्घ कविता में लिपिबद्ध किया है, जिसका गद्य-रूपान्तरण इस प्रकार है –

आमों की मञ्जरी पर वसन्त उतर चुका है, भौंरों की मञ्जु-गुञ्ज, शीत-वायु बौरों से रह-रहकर आती हुई मन्द-गन्ध ढो रही है। पुष्करिणी के

किनारे दोहरे कतारों में श्रेणीबद्ध लगे हुए नारियल फले हैं। तालाब भरा हुआ है, पानी की सतह पर मछलियाँ पूँछ पलटती हुई खेलती हैं। ऋतु-ऋतु में खिलते हुए, पूजा के उपचार – गन्धराज, बकुल, बेला, जूही, हरसिंगार, केतकी, कनेर, कुन्द, चम्बा वहीं लगे हुए हैं। मध्यवित्त गृहियों के वासगृहों के पीछे अमरूद, जामुन, अनार, लीची, फालसे, कटहल, कोनों में बाँस के झाड़, कहीं इमली, इंगुदी, कपास, नीम लगे हुए हैं। वासगृह से भिन्न सामने स्वच्छ स्निग्ध गन्ध से मोदित करता हुआ पूजागृह है।

ब्राह्मण का शोभन गृह। अन्य ओर धान का गोला और एक ओर बीचो-बीच स्वच्छ जलवाली, हल्की-सजी हुई पुष्करिणी-कल और सुघर बँधा हुआ घाट। यहाँ भी वैसे ही गुलाब, नारियल लगे हैं, पर बाँस या इमली नहीं है। सुन्दर सी बैठक में गृहस्वामी बैठे हुए हैं। बालकों का कलरव अबाध गूँजता है। पकते समय बेर के, खजूर के, आम और जामुन के नीचे महाभारत मचा हुआ है। ऊँचे भूखण्डों पर दूर-दूर पास-पास गाँव के आवास हैं। नीची-नीची जमीन में, जहाँ पानी जमता है, देर हुई अगहन के धान कट चुके है, किन्तु ऐसी जमीन में अभी तक कुछ नमी है। गृहस्वामी परमहंसदेवजी के भक्त हैं।

युवक-समाज स्वामी विवेकानन्दजी के लिखे हुए ग्रन्थ बड़े चाव से पढ़ता है। उनके प्रभाव से, जैसे मधु-ऋतु से तरु, चरित्र का शोधन भी करना चाहता है। रामकृष्ण के शिष्य स्वामी प्रेमानन्दजी उत्सव में आयेंगे – ग्रामीण जनों में निश्चय बँध चुका है। एक भक्त स्वामीजी को लेने भेजा गया। पश्चिम के प्रान्त का एक युवक (निराला स्वयं), जिसके पिता बंगदेश गये थे, फिर वहीं बसे थे; वह तरुण जैसे भास को प्रभात स्वामी को ले आया। साथ में ब्रह्मचारी थे, जो आत्मा की खोज और लोगों की सेवा के लिए वहाँ गये हुए थे। स्वामीजी के दर्शनों से जन समुदाय मानो पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर चढ़ा हुआ सागर था।

एक खेत पीटकर बराबर कर दिया गया। बड़ा शामियाना तना। तोरण बनाये गये। द्वारों पर दोनों ओर कलस रखे गये – जलपूर्ण, सेंदुर से स्वास्तिका खींचकर, आम्र-पल्लव, धान-भरी परई, कच्चा छोटा नारियल रखकर। पुष्प और पल्लवों का शोभापूर्ण मंच सजा। फूलों से आच्छादित रामकृष्ण का चित्र

तख्त पर रखा गया। रँगे हुए कागजों की जंजीरें तथा प्रवेशद्वार पर विशाल स्वागत लगा हुआ है। बाल-वृद्ध-युवा-नर-नारी आते-जाते हैं। खोल-करताल पर कीर्तन होता रहा। दीन नारायणों के अभ्यर्थन में खिचड़ी, कई भाजियाँ, मिष्ठान्न परिवेश किया गया। अन्य प्रसाद के प्रत्याशी जन एक पंक्ति में साथ बैठते थे। कितनी ही पंक्तियाँ हुईं। सभी आमन्त्रित थे। नगर के राजकर्मचारि–वर्ग, धनी-मानी जीवन की पुष्टि और आध्यात्मिक धारणा के लिए आये हुए थे। पवन ज्यों भली-बुरी गन्ध से मुक्त हो, वे भक्ति के प्रतिरूप, देह जैसे आत्मा को घेरकर खड़े थे। मञ्च के सामने गायकों का, भक्तों का मृदंग-करताल बजते हुए कीर्तन होता रहा। भक्तजन बार-बार चक्राकार परिक्रमा करते हैं। उत्सव समाप्त हुआ।

श्रेष्ठ राजकर्मचारी स्वामीजी को बुलाकर उपवन के अपने भवन में ले आये और समादर से रखा। पूजा-अनुष्ठान हुआ। पश्चिमीय तरुण ने रामचरितमानस से श्रीसुतीक्ष्ण की कथा मधुर कण्ठ से पढ़ी, जो रघुनाथ के वन्दन तथा भक्ति से ओतप्रोत है। सभ्य जन आँसू बहाते हुए सुनते रहे। ध्यानमग्न स्वामीजी स्वर के स्तर से चढ़कर सहस्रार में गये। तभी लोकोत्तर-आनन्द सबकी समझ में आया। कथा समाप्त हुई। गृहस्वामी भोजन का आयोजन करने लगे। नयी पत्तलें पड़ीं। आसन बिछाये गये, जल-पात्र रखे गये। घृतपक्व गन्ध से गृह महकने लगा। हवा दूर आवास तक खबर भेजती है। सभी राजकर्मचारि-वर्ग आमन्त्रित हैं।

आवाहन होने पर स्वामीजी उठकर चले। उनके पद क्षालित हुए, हाथ-मुँह धुलाकर सबसे अधिक मर्यादित आसन दिखाया गया। उनके बैठने पर ही, ब्राह्मण-कायस्थ सब आमन्त्रित जन एक ही पंक्ति में बैठे। श्रेष्ठ राजकर्मचारी जाति के कायस्थ थे। स्वामीजी का भी पूर्वाश्रम कायस्थ कुल में था, जैसे विवेकानन्दजी का। राजकर्मचारी को इससे गर्व हुआ। वे खुलकर बोले भी – "एक दिन ब्राह्मणों ने हमें पतित किया था; हम शूद्र कहलाये, किन्तु श्रीविवेक और आप-ऐसे कृतियों ने हमें धन्य कर दिया। हम भी ब्राह्मणों की ही तरह एक ही फल के भागी तथा स्वाच्छन्द्य के भोगी होकर समाज में सिर उठाकर रहते हैं।" स्वामीजी एकांगिणी स्तुति को दबाते हुए मौन थे। ब्रह्मवर्ग सजग हुए। उनका स्पर्धा से उद्धत सिर देखते ही स्वामीजी वह क्षोभ

भरनेवाला मनोभाव समझ गये, स्नेह-कण्ठ से बोले, "संन्यासी होने पर हम देश-काल-पात्रता से दूर हुए हैं। हमारा रामकृष्णमय जीवन सर्व जनों के लिए है। जिनका शुभ जन्म ब्राह्मण के गृह में हुआ था, हम या विवेकानन्द वहाँ उनके दर्शनों को नहीं गये थे; हमने उन्हीं त्यागी-योगी सिद्धेश्वर-प्रवर से सीखें ली हैं, जो परमात्मलीन तथा जाति-कुल से विगत थे।"

यद्यपि द्विज-भ्रमर उन मधुपुष्प शब्दों पर बैठकर शान्त हुए, फिर भी एक बर्र जैसे गूँजते ही रह गये – "राजा ब्राह्मण हैं, मैं ब्राह्मण-विद्वेष की कथा उनसे कहूँगा, उन्हीं के साथ यह श्रेष्ठ राजकर्मचारी बैठकर जायेंगे – हम लोग देखेंगे।" कहकर वह उठने लगे। एक दूसरे ने कहा, "अभी कहाँ जाते हैं? रसगुल्ले आ रहे हैं, जिह्वा कटु हुई है, मीठी कर लीजिए।" वह पश्चिमीय भी चुपचाप बैठा था। द्विजदेव उठने को काँपकर बैठे रहे। स्वामीजी भोजन अधूरा ही छोड़कर उठ खड़े हुए। बढ़ते हुए कहा, "हमारा भी कोई अपना समझदार होगा, वही ऐसे विद्वानों को समझायेगा।" द्विज भी खड़े हुए, पश्चिमीय की तरफ उँगली उठायी और कहा, "घोर कलिकाल है ! ऐसा भी आदमी पंक्ति में बैठाला गया, जिसके माँ-बाप का पता आज तक न लगा।" स्वामीजी ने कहा, "ऐसे कलिकाल में रामकृष्ण आये हैं, स्वामीजी श्रीविवेकानन्द ऐसे ही जनों के परमबन्धु हो गये। जिनका कुछ पता नहीं था, जो लोग म्लेच्छ और दुराचारी कहलाते रहे, उन्हीं का पता रहा।"

राजकर्मचारी ने हाथ जोड़कर कहा, "आपके बैठे बिना लोग उठ जायँगे, यज्ञ अधूरा होगा।" स्वामीजी ने कहा, "भोजन-समाप्ति का अन्न-मिष्ठान्न जो कुछ हो, लाकर पहले इसी युवक को परोसो। यहीं से इस भोजन का प्रारम्भ होता है। फिर सभी प्रसाद पायेंगे।" मेघमन्द्र कण्ठ से सब स्तम्भित हो गये। स्वामीजी बैठ गये। मिष्ठान्न लाया गया। पहले विनय से युवक को परोसा गया। आमन्त्रितगण समय के प्रभाव से दबे हुए चुपचाप बैठे रहे और साधुता का स्वाद लेते हुए मिष्ठान खाया। सब प्राण गगन में तारे जैसे खुल गये। आमन्त्रित जन चमके। साधुभोज पूर्ण हुआ।

प्रातःकाल सभा हुई। स्वामी प्रेमानन्दजी के मुख से रामकृष्णदेव और श्रीविवेकानन्द की बातें सुनने के लिए स्थानीय जन प्रेम से समवेत हुए। राजकर्मचारी जी सबसे विद्वान, आदरणीय तथा राज्य के प्रधानामात्य-पद पर

थे। उन्हीं ने सभापति का आसन सुशोभित किया। बगल में श्री स्वामीजी की कुरसी रखी गयी। समागत सभ्य विद्वानों के व्याख्यान हुए। कोई श्रीमद्-रामकृष्ण परमहंसदेव पर, कोई स्वामी श्री विवेकानन्दजी के विषय पर, आधुनिक धर्म, त्याग, जाति का उत्थान, प्रेम, सेवा, देश-नायकता, भारत और विश्व जैसे गहन समस्या लेकर बोले। एक ब्रह्मचारी ने स्वामी श्री विवेकानन्दजी की 'वीरवाणी' से 'सखा के प्रति' विशिष्ट पद्य की आवृत्ति की।

स्वामीजी से बोलने के लिए प्रार्थना हुई। जनता उद्ग्रीव होकर वह पवित्र मुख देख रही थी। स्वामीजी खड़े हुए। कहा, "आप लोग सब विद्या के आमुख हैं, बोलेंगे; हम सेवक हैं; हममें जो श्रेष्ठ श्रुतिधर थे – विवेकानन्द – विश्व उन्हें जानता है। जनता के अर्थ वे सब कुछ कह गये हैं, सिर्फ काम करना है। फिर भी लोगों के आग्रह से हम सांसारिक धर्म पर बोलते हैं, जैसा ऋषि-मुनियों ने कहा है और जो सर्वश्रेष्ठ है।

नारदजी एक दिन विष्णुजी के पास गये। पूछा, "मृत्युलोक में वह कौन पुण्यश्लोक है, जो तुम्हारा भक्त है?" विष्णुजी ने कहा, "एक सज्जन किसान है, प्राणों से प्रियतम।" नारद ने कहा, "मैं उसकी परीक्षा लूँगा।" यह सुनकर विष्णु हँसे – कहा कि ले सकते हो। नारद चल दिये, भक्त के यहाँ पहुँचे। देखा वह दुपहर को हल जोतकर आया; दरवाजे पर पहुँचकर रामजी का नाम लिया; फिर स्नान-भोजन करके काम पर चला गया। शाम को दरवाजे पर आकर फिर नाम लिया। प्रातःकाल चलते समय एक बार फिर उसने मधुर नाम स्मरण किया। बस केवल तीन बार! नारद चकरा गये – ऋषि-मुनि लोग दिन-रात नाम जपते हैं, किन्तु भगवान को यह किसान ही याद आया। वे विष्णुलोक गये। भगवान से बोले, "किसान को देखा, दिन भर में उसने तीन बार नाम लिया है।" विष्णु बोले, "नारदजी, एक दूसरा आवश्यक काम आया है। तुम्हें छोड़कर कोई और नहीं कर सकता। यह साधारण विषय है, विवाद बाद को होगा; तब तक यह आवश्यक कार्य पूरा कीजिए। यह तैलपूर्ण पात्र लेकर भूमण्डल की प्रदक्षिणा कर आइए। इसका विशेष ध्यान रहे कि इससे एक बूँद भी तेल न गिरने पाये।" नारदजी लेकर चले आज्ञा पर धृतलक्ष्य – एक बूँद तेल उस पात्र से गिरे नहीं। योगिराज जल्द ही विश्व-पर्यटन करके बैकुण्ठ को लौटे, उस पात्र से एक बूँद भी तेल गिरा नहीं था। यह

सोचकर कि आज तेल का एक नया रहस्य अवगत होगा, उनके मन में उल्लास भरा था। विष्णु भगवान ने नारद को देखकर स्नेह से बैठाला और कहा, "यह तुम्हारा उत्तर यहाँ आ गया। बतलाओ, पात्र लेकर जाते समय कितने बार इष्ट का नाम लिया?" शंकित हृदय से नारद ने विष्णु से कहा, "तुम्हारा ही काम था, ध्यान उसी से लगा था, फिर नाम और क्या लेता?" विष्णु ने कहा, "नारद, उस किसान का भी काम मेरा ही दिया हुआ है, कई उत्तरदायित्व एक साथ लादे हैं। वह सबको निभाता और काम करता हुआ नाम भी लेता है, इसी से प्रियतम है।" नारद लज्जित हुए, कहा, "यह सत्य है।"

व्याख्यान पूरा हुआ। स्वामीजी स्तब्ध बैठे। धार्मिक आभास मिला, सभा रंजित हुई। स्वामीजी ने चीफ मैनेजर साहब से कहा, "कोई दर्शनीय स्थान हो तो हमें दिखा दो।" मैनेज़र ने कहा, "राजा के गढ़ मध्य कृष्णजी का मन्दिर है। बहुत ही सुन्दर स्थल है। सन्ध्या की आरती के समय साथ चलेंगे। यों तो प्रासाद तथा और दृश्य हैं, किन्तु आपके लिए वह देखना व्यर्थ है।" स्नान, ध्यान, भोजन, आराम, के अनन्तर सब लोग राजगढ़ के अभ्यन्तर कृष्णजी के दर्शन को तैयार हुए। स्वामीजी, तीन ब्रह्मचारी, मैनेजर साहब चले। वह पश्चिमीय युवक भी साथ हुआ।

चारों ओर से गढ़ को अपने में वेष्ठनी-सी डालकर तीन मील घेरकर एक गहरी नहर-सी परिखा है। परिखा के पुल के बाद पश्चिम में सिंहद्वार है। रास्ता सीधा गया है। दोनों ओर बड़े-बड़े स्वच्छ जलाशय हैं। सरोवर तटोद्यान के समतल किये हुए हैं और दूब जमाई हुई है। लाल-पीले-जर्द मिश्र रंगों की बहार – ऋतुपुष्पों की थालियाँ नयनों को तृप्त करती हैं। बेंचें पड़ी हुई हैं। सरोवर-जल से स्पृष्ट स्निग्ध हवा आती है। दोनों ओर सरोवर; काफी भूमि छोड़कर, दो-दो, चार, रास्ते के दोनों ओर बटम-पाम की कतारें हैं। बीच से दो सरों के दायीं ओर मध्य से कृष्णजी के मन्दिर को राह गयी है। दूब की हरियाली, जल की लघु नीलिमा, दूर तक फैली बटम-पामों की छायाकृति, ऋतुपुष्पों की शोभा, देवदार, हींग और इलायची-अशोक जैसे कीमती वृक्षों की छटा मन को क्षण मात्र में मुग्ध कर लेती है। समीरण जल की लहरियों से खेलता है। एक राह और राजभवन से गयी हुई है। फिर बड़ी ड्योढ़ी पड़ती है। बाद को ड्योढ़ी से दिखता हुआ, उद्यानों में बना शोभन,

विशालकाय प्रासाद है। चीफ मैनेजर साहब उसी से लेकर चले।

सिंहद्वार पर जैसा, जिसको पार कर ये यहाँ पहुँचे हैं, ड्योढ़ी पर सन्तरी खड़ा है। इस दीर्घ ड्योढ़ी के बहुत ऊँचे फाटक से राजप्रासाद का सन्तरी दिख रहा है। उसके प्राय: बीस बहुत लम्बे-लम्बे संगमरमर के सोपान, एक मंजिले तक ऊँचा – चढ़े। दोनों ओर तोपें लगी हैं, दोनों ओर पत्थरों पर सोने के पानी चढ़े भीमकाय सिंह बैठे हैं। दोनों ओर बड़े-बड़े एक-एक बटम-पाम हैं। संगमरमर और संगमूसे का बना खुला बड़ा बरामदा है। क्रम क्रम से चौकोर पत्थर लगे हुए हैं। ऊँची-ऊँची रेलिंग और बड़े-बड़े दुहरे दरवाजे, जिनमें एक शीशे का है। भवन विशालकाय है। मन्द पवन बह रहा है; भीनी भीनी रातरानी की सुगन्ध आ रही है।

सन्तरी ने चीफ मैनेजर को सलाम किया और विनय से कहा, "महाराज का हुक्म है, आप अकेले ही इस मार्ग से जा सकते हैं। दूसरों के लिए जब तक कोई हुक्म नहीं होगा, मैं छोड़ नहीं सकता। दूसरों के लिए जाने का मार्ग उधर से है।" अब वह ब्राह्मण बाहर आये, जो भोज में गरमाये थे, कहा, "महाराज उतर आए हैं। इतना सम्मान परमहंसदेव जी के लिए उनके हृदय में है, लेकिन इन अपमानकारी स्वामीजी के लिए, जो कि उस आश्रम के एक कायस्थ हैं, वे मन्दिर में दर्शन दिलाते समय उचित व्यवस्था करेंगे।"

एक साधारण कर्मचारी की बात सुनकर मैनेजर साहब सन्नाटे में आ गये। कहा, "ये आये हैं इतना ही बहुत है और तुम्हें कौन समझायेगा ये कौन है, विवेकानन्द कौन हैं।" संवाददाता ने कहा, "महाराज का जैसा कहना था, मैंने किया; आप जैसा कहेंगे चलकर उनसे कहूँगा, फिर उत्तर ला दूँगा। जरा देर खड़े रहिए, क्योंकि वे खड़े हैं।" कहकर चले गये कुछ देर बाद आए, कहा, "महाराज की आज्ञा नहीं ली गयी। आपको मालूम है सिंहद्वार के इधर कभी कोई अजनबी पैर नहीं रख सकता। आप यहाँ आ गये, फिर भी राजा के सिपाही लोग खामोश हैं।"

इससे बड़ा अपमान दूसरा नहीं होता । शिव जैसे गरल को पीकर स्वामीजी बोले, "हमें नहीं ज्ञात था कि देव-दर्शन के लिए हुक्म लिया जाता है।" ब्रह्मदेव ने कहा, "देवता राजा के हैं, किसी प्रजा के नहीं।" स्वामीजी तमतमा उठे, किन्तु पूरी बात सुनने को धैर्य से रहे। ब्राह्मणजी कहते गये,

"चीफ मैनेजर साहब, जिनके दर्शन के लिए आप लोग जा रहे हैं, राजा यहाँ वही हैं। यह तो बतलायें, अपमान किसका किया था?" मैनेजर स्वामीजी को बात समझाने लगे, "कृष्णजी ही राज्य के राजा कहे जाते हैं। यहाँ मुहर में उन्हीं की छाप चलती हैं, ये लोग उत्तराधिकारी कहे जाते हैं।" स्वामीजी मुस्कराये । सीधे स्वर से कहा, "क्या वह भी ब्राह्मण थे, जिनका इन्हें गर्व था।" ब्रह्मदेव झेंप गये, कहा, "महाराज ने यह और कहा – नंगेपन के उत्तर में अपने गुरुदेव को, नंगे बाबाजी को हम यहाँ पेश करते हैं।" स्वामीजी ने कहा, "परमहंसदेव भी नंगे हो जाते थे। गुरु सब एक हैं। साधु अपमान नहीं करता, सह लेता है।" चीफ मैनेजर को गहरा धक्का लगा। ब्रह्मदेव कहने लगे, "आप हैं सर्वश्रेष्ठ राजकर्मचारी, तभी हल्की-हल्की सजा का विधान किया गया है। आप हों या स्वामीजी, एक ही महज्जन इस मार्ग से जायेंगे, अन्य जन घूमकर। और पश्चिमीय के लिए तो सदा ही मन्दिर-प्रवेश में निषेध रहा है।"

स्वामीजी काँप उठे। कहा, "इसलिए नहीं आये। जैसे कभी दर्शन भी नहीं किये। हम साधु हैं।" ज्यों ग्रास ही कर जाने को शरीर से ज्वाला-सी निकली। ब्रह्मदेव तड़ित-से स्तम्भित-से हो गये। देखा – श्रीकृष्ण स्वामीजी में आ गये हैं। ब्राह्मण को अपने नेत्रों पर अविश्वास हुआ। रगड़कर फिर से देखा – स्वामीजी की देह में कृष्णजी की ज्योतिर्मयी घनीभूत नीलकान्ति। आनन्द के परमाणुओं का फव्वारा छूटा। जितने जन थे जैसे उमड़े आनन्द हों। ब्रह्मदेव ने देखा – ज्योति की-सी रेखा से स्वामीजी के साथ पश्चिमीय का शरीर बँधा हुआ है।

पागल-सा हुआ वह यह कहता हुआ भागा – "वाह वाह, ऐ सा अच्छा आज तक नहीं देखा।" कहता दौड़ता हुआ राजा के समीप गया। सुनते ही महाराज अभिभूत हो गये। स्वामीजी को उसी राह से कृष्ण-मन्दिर में सादर ले चलने के लिए ब्राह्मण को फिर भेजा। स्वामीजी ने कहा, "हम साधारण के ही हैं, घूमकर जायेंगे, हमें यही खुशी है।" अस्तु घूमकर गये।

दोनों ओर नौबतखाने। संगमरमर का चत्वर। दोनों ओर दिव्य मन्दिर। सामने विशालकाय मन्दिर में स्वर्ण-भूषणों से सजे कृष्णजी। देखकर द्वारकाधीश कृष्ण याद आ गये। वह पश्चिमीय-जन मन्दिर के बाहर रहा।

स्वामीजी ने चलते समय कहा, "बाहर जो खड़ा है, मैं वही हूँ।" जब स्वामीजी लौटे तो प्रेम से मन्त्रमुग्ध युवक उनके साथ हो गया। वासना ने मुँह फेरा, सदा को चला गया।

❑❑❑

उपरोक्त संस्मरण में उल्लेखित पश्चिमीय युवक निराला स्वयं हैं। स्वामी प्रेमानन्दजी ने उनके हृदय पर इतनी गहरी छाप छोड़ी कि उनके लौट जाने पर भी निराला के नेत्रों के सामने उनका रूप भासता रहता था। महिषादल के एक सज्जन श्यामापद मुखोपाध्याय श्रीरामकृष्णदेव के परम भक्त थे। सूर्यकुमार (निराला) की उनसे मैत्री हो गई। उनके घर जाकर वे प्रायः ही वेदान्त-चर्चा करने लगे। उनसे लेकर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की अनेक पुस्तकें पढ़ी और इस प्रकार सूर्यकुमार के लिए ज्ञान का एक नया संसार खुल गया। अब वे श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव में भाग लेने बीच-बीच में बेलुड़ मठ जाने लगे। फिर १९२१ ई. में अद्वैत आश्रम से 'समन्वय' मासिक प्रारम्भ होने पर वे उसके सम्पादकीय विभाग में कार्य करने आकर उद्बोधन कार्यालय में निवास करने लगे तथा स्वामी सारदानन्दजी के निकट सम्पर्क में आए। इसका सविस्तार विवरण निराला के ही शब्दों में आगामी किसी अंक में प्रस्तुत किया जायगा।
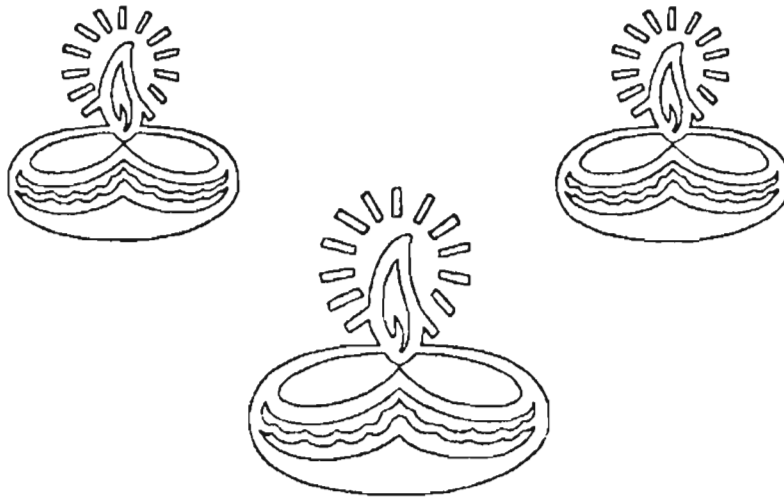
स्वामीजी के संग नौ मास (१)

स्वामी अचलानन्द

१८९९ ई. में मुझे पहली बार श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के बारे में जानकारी मिली। उसी समय बेलुड़ मठ की भी स्थापना हुई थी। स्वामीजी वहीं थे, परन्तु तब उन्हें देखने का मन में वैसा आग्रह न था। उसी वर्ष के आखिरी दिनों में मैं बेलुड़ मठ गया, किन्तु स्वामीजी से भेंट न हो सकी, क्योंकि वे यूरोप जा चुके थे। फिर १९०० ई. में जब मैं राजपुताना का अकाल राहत कार्य समाप्त करके वृन्दावन लौटा, तब सुनने में आया कि स्वामीजी भारत लौट आये हैं। स्वामी सारदानन्द ने कल्याणानन्दजी को लिखा, "इच्छा हो तो तुम लोग आकर स्वामीजी का दर्शन कर सकते हो।"

इसके बाद मैं काशी चला आया। आकर देखा तो अनाथाश्रम किराये के मकान में चल रहा है। चारु बाबू के अकेले होने के कारण कार्य में भी असुविधा हो रही थी। अतः उन्हें छोड़कर मठ जाने की इच्छा नहीं हुई। इसके नौ महीने बाद १९०१ ई. में शारदीय दुर्गापूजा के पूर्व मैंने अन्तर में स्वामीजी के दर्शन का प्रबल आग्रह अनुभव किया।

उसी वर्ष दिसम्बर में भारत आते ही पूज्यपाद स्वामीजी को पता चला कि कुछ युवकों ने मिलकर काशी में निर्धनों के सहायतार्थ एक अनाथाश्रम की स्थापना की है। उनमें से एक कर्मी युवक जब उनका दर्शन करने बेलुड़ मठ गया, तो उन्होंने आश्रम का सारा समाचार लेने के पश्चात उसे अतीव उत्साह देते हुए कहा, "ऐसे आश्रम भारत के हर तीर्थस्थान में होने चाहिये।" उसी समय उन्हें अनाथाश्रम की समस्त गतिविधियों की जानकारी मिली और इस कार्य से वे इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्होंने उक्त युवक को शरीर स्वस्थ रखने का उपदेश दिया तथा उसे मन्त्रदीक्षा भी प्रदान की। इसी बीच स्वामीजी ने तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) को काशी भेजा कि वे अनाथाश्रम को देखकर सविस्तार सूचना भेजें। तुलसी महाराज ने काशी पहुँचकर अनाथाश्रम का निरीक्षण किया और स्वामीजी को विस्तार से लिखा।

जैसा कि मैं पहले बता आया हूँ, १९०१ ई. की शारदीय दुर्गापूजा के पूर्व ही मेरा मन स्वामीजी का दर्शन करने को अत्यन्त आकुल हो उठा था। मैंने अपनी आन्तरिक इच्छा चारुबाबू के समक्ष व्यक्त की। उन्होंने मुझे पन्द्रह दिनों की छुट्टी दी और मैंने बेलुड़ मठ के लिए प्रस्थान किया।

दुर्गापूजा की षष्ठी के दिन मैं बेलुड़ मठ जा पहुँचा। मुझे पहले से ज्ञात न था कि इस बार मठ में पूजा होने वाली है। हावड़ा स्टेशन पर उतरकर मैं श्री माताजी का दर्शन करने बागबाजार के बोसपाड़ा लेन गया। मुझे वहाँ माँ का दर्शन नहीं मिला। सोचा शायद बेलुड़ मठ गयी हों। वे उन दिनों बेलुड़ में नीलाम्बर मुकर्जी के किराये के मकान में ठहरी थीं। मठ पहुँचकर मैंने देखा कि पूजा की तैयारी चल रही है। पूज्यपाद ब्रह्मानन्दजी भी अत्यन्त व्यस्त थे। उनके साथ मेरा पहले से ही परिचय था। अतः सर्वप्रथम मैंने उन्हीं के दर्शन किये। जहाँ तक स्मरण है, उन्होंने ही मेरा पूज्यपाद स्वामीजी से परिचय कराया था । मुण्डित-मस्तक कौपीनमात्र धारण किये स्वामीजी का प्रथम दर्शन मैंने उन्हीं के दुमंजिले पर स्थित कमरे में किया। उनके शरीर पर दूसरा कोई वस्त्र नहीं था। मैंने उनकी चरण वन्दना की। उन्होंने मुझसे काशी का सविस्तार समाचार पूछा।

मैं मठ में ही ठहरा था। सप्तमी के दिन पूजा विशेष धूमधाम के साथ सम्पन्न हुई। पूजा का संकल्प माताजी के नाम पर हुआ था। कृष्णलाल महाराज (बाद में स्वामी धीरानन्द) पुजारी तथा पूजनीय शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) के पिता तंत्रधारक थे। अष्टमी के दिन स्वामीजी को ज्वर हो गया, परन्तु अस्वस्थता की हालत में भी वे निरन्तर हास-परिहास करते रहे, विशेष कष्ट होने पर ही थोड़े शान्त रहते थे। दम फूलने पर वे चुप हो जाते और ठीक महसूस करते ही वे फिर पूर्ववत आनन्द तथा हास्यधारा में निमग्न हो जाते। नवमी के दिन नल -दमयन्ती नाटक हुआ। उस समय उन्होंने खूब रस-रंग किया था। इससे भलिभाँति समझ में आ जाता है कि शारीरिक अस्वस्थता या पीड़ा उन्हें अभिभूत नहीं कर पाती थी। बीमारी के दौरान भी आश्रितों के प्रति उनका स्नेह कम न होकर बल्कि बढ़ जाता था। उनकी अस्वस्थता के समय उनका एक सेवक भी बीमार हुआ। उस समय स्वामीजी को १०५ डिग्री बुखार था।लोगों के उन्हें देखने आने पर वे उनसे अस्वस्थ सेवक का समाचार मँगवाते तथा उसकी सेवा का निर्देश देते। इस अतीव कष्टभोग के समय भी वे नियमित रूप से अपने आश्रितों की कुशलता का समाचार लिया करते थे। दशमी को विसर्जन के समय प्रतिमा को मुंशियों के नाव पर चढ़ाया गया और पूजनीय राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) वृन्दावनी दुपट्टा ओढ़कर बैण्ड के साथ साथ माँ-दुर्गा के सामने जो सुमधुर

नृत्य कर रहे थे, उसे देखकर सभी मुग्ध हो गये। ऐसा लगा मानो साक्षात् श्रीकृष्ण ही माँ के सम्मुख नृत्य कर रहे हों। स्वामीजी ने मठ के बरामदे में खड़े होकर वह अपूर्व नृत्य आनन्दपूर्वक देखा। पूजा के बाद ही स्वामीजी का शरीर स्वस्थ हो उठा था।

कोजागरी पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने मठ में पहली बार लक्ष्मीपूजा की। फिर कालीपूजा का समय आ गया। स्वामीजी ने कहा, "अब माताजी के नाम संकल्प नहीं होगा। हम लोगों के नाम ही पूजा होगी।" विशेष समारोह के साथ कालीपूजा सम्पन्न हुई। उस समय जो आनन्द का प्रवाह फूट निकला था, उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। पूजा की रात के प्रथम प्रहर में, पूजा आरम्भ होने के पहले ही स्वामीजी पूजा के दालान में ध्यान करने बैठे और थोड़ी ही देर में समाधिमग्न हो गये। कुछ काल इसी अवस्था में रहने के बाद, उनकी चेतना लौटने का कोई आभास न देखकर पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) ने उनके कानों में बारम्बार ठाकुर के नाम का उच्चारण किया। इससे उनकी संज्ञा लौट आई।

इसके बाद जगद्धात्री-पूजा का अवसर आया। यह पूजा स्वामीजी की माँ ने कलकत्ते के सिमला में स्थित उनके पैतृक मकान में आयोजित किया था। हम लोग निमंत्रित होकर वहाँ गये। स्वामीजी ने स्वयं ही व्यवस्था का भार लिया था। वहाँ भी खूब आनन्द हुआ। तदुपरान्त स्वामीजी ने मठ में प्रतिमा मँगवाकर सरस्वती-पूजा का भी अनुष्ठान किया। इसके पूर्व कभी मठ में सरस्वती पूजा नहीं हुई थी।

स्वामीजी का हम लोगों के प्रति कितना प्रगाढ़ स्नेह था, इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी गहनता को मापना मेरे लिये निरर्थक प्रयास मात्र है। प्रेम तो प्राण की वस्तु है। उसे केवल अनुभव किया जा सकता है, व्यक्त नहीं किया जा सकता। जिन्हें स्वामीजी का स्नेह पाने का सौभाग्य मिला है, केवल उन्होंने ही इसे अपने अन्तर में अनुभव किया है।

श्री माँ के पश्चात् स्वामीजी के स्नेह ने ही मुझे अभिभूत किया था। इतना स्नेह मुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिला। सुना है कि महापुरुषों के चरित्र में दो विपरीत भावों का समावेश रहा करता है। स्वामीजी के चरित्र में भी मैंने इसी प्रकार दो विपरीत भावों का समावेश देखा। एक ओर जैसे वे प्रेम के

प्रतीक थे, वैसे ही दूसरी ओर वे कठोरता की प्रतिमूर्ति थे। जब उनका प्रेमिक वाला रूप अभिव्यक्त होता उस समय वे सबको मानो प्रेमरस में सराबोर कर देते, सबको बालसुलभ आनन्द से मुग्ध कर देते; परन्तु जब वे रौद्र रूप धारण करते, तब हर कोई उनसे दूर ही रहने का प्रयास करता। उस समय किसी को भी उनके निकट जाने का साहस नहीं होता। यहाँ तक कि पूजनीय राखाल महाराज भी तब उनके पास जाने से कतराते थे।

स्वामीजी का स्नेह केवल मनुष्यों तक ही सीमित न था; वह गाय-बकरी आदि इतर प्राणियों को भी अपने दायरे में खींच लेता था। जीव-जन्तुओं के प्रति उनके प्रेम के कुछ उदाहरण देता हूँ। चिकित्सकगण स्वामीजी के स्वास्थ्य के बारे में अत्यन्त चिन्तित थे यह देखकर कि बीमारी के बावजूद उनका मन सर्वदा उच्च भाव में आरूढ़ रहता है। उन लोगों ने उनके गुरुभाई राखाल महाराज को बताया कि स्वामीजी के मन को उच्चभाव से उतारकर जागतिक व्यापारों में लगाने के लिए उनके पास कुछ जीव-जन्तुओ को रखा जाय। तदनुसार मठ में बकरी, गाय, कुत्ते, बतख आदि पालतू जीव पाले गये। उनमें एक बकरी का बच्चा था, जिसका नाम था 'मटरू'। वे उसे इतना प्यार करते कि वह भी उनके प्रति लगाव का अनुभव करता था। दूर होने पर भी 'मटरू' कहकर पुकारते ही वह दौड़कर स्वामीजी के पास चला आता। 'मटरु' इतना भाग्यवान था कि मृत्यु के समय उसने स्वामीजी की गोद में सिर रखे हुए ही अन्तिम साँस ली थी। उनके दो कुत्ते भी थे, जिनमें एक का नाम था 'बाघा' और दूसरे का 'लायन'। ये दोनों कुत्ते भी उनसे बहुत हिले हुए थे। एक बार उन्होंने किसी कारणवश बाघा को मठ से निकालकर गंगापार भेज दिया था, परन्तु दो दो बार वह उधर आती नावों में सवार होकर मठ लौट आया था। गाय, भेड़ तथा बतखों के प्रति भी स्वामीजी का स्नेह इसी प्रकार था। वे पशुओं के साथ मिलकर ऐसे खेलते कि वे भी स्वामीजी के व्यवहार पर मुग्ध हो जाते।

सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जब जीव-जन्तुओं पर उनका इतना प्रेम था, तो मनुष्यों के प्रति उनका प्रेम कितना अपार होगा। कुली, मजदूर तथा नौकरों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण था। मठ में काम करनेवाले संथाल कुलियों के साथ वे घुलमिल कर बातें करते और उनके खान-पान तथा सुख-दुख की खबर लेते। वे उन लोगों में ऐसे घुल मिल जाते

कि वे लोग स्वामीजी को अपनों में ही एक समझने लगते तथा प्राण खोलकर अपने सुख-दुख की बातें कहते।

हम लोगों के प्रति भी उनका अबाध स्नेह था। उनके सभी आश्रितों ने इसका अपने अन्तर में अनुभव किया है। वैसे तो वह प्रेम वर्णन के अतीत है, तथापि मैंने स्वयं जो अनुभव किया है, उसे बताने का प्रयास करता हूँ। उस समय मैं मठ में नया नया आया था। मेरी तबीयत थोड़ी खराब थी। अनार खाते खाते सहसा स्वामीजी को मेरी याद आ गई और उन्होंने उसका बचा हुआ अंश तत्काल मेरे लिये भेज दिया। फिर कभी ऐसा भी होता कि कुछ खाते हुए अच्छा लगने पर वे तुरन्त उसका अश अपने पदाश्रितों को दे देते। ऐसा भी होता कि जिन युवकों को अन्य सन्यासी ज्यादा उत्साहित नहीं करते, उन्हें स्वामीजी के पास आने पर आश्रय मिल जाता।

लोगों की गुणावली पर ही उनका ध्यान जाता था, दोष उनकी दृष्टि में नहीं आते थे। किसी में भी छोटा सा गुण हो, तो वे उसे बहुत बड़ा करके देखते। किसी के थोड़ा सा भी भलाकार्य करने पर, वे उसी पर मुग्ध हो जाते। इसके फलस्वरूप वह व्यक्ति स्वामीजी की गुणग्राहकता पर मुग्ध होकर दुगने उत्साह के साथ सत्कार्य में मन लगाता। उनके प्रेम का ठीक ठीक निरूपण करने की क्षमता एवं अधिकार मुझमें नहीं है, तथापि इतना कह सकता हूँ कि जिसे भी थोड़े दिनों के लिये उनका संग मिला हो, उसने अपने प्राणों में उनके स्नेह का अनुभव किया है। एक वाक्य में कहें तो वे प्रेम की प्रतिमूर्ति थे।

एक बार कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) उनकी सेवा करते करते उनके सीने पर ही सिर रखकर निद्रामग्न हो गये। इस भय से कि कहीं सेवक की नींद न टूट जाय, स्वामीजी काफी देर तक उसी मुद्रा में चुपचाप पड़े रहे। बाद में कन्हाई महाराज की निद्रा भंग होने पर ही स्वामीजी बिस्तर से उठे। अपने शिष्यो को जब वे 'बाबा' कहकर सम्बोधित करते, तब जिस स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति होती, उसका शब्दों में वर्णन असम्भव है। एक बार वे मुझसे बोले, "बाबा, क्या तू मुझे निद्रा ला सकता है? तू जो चाहेगा, मैं दूँगा।" मेरी क्या बिसात जो उन्हें निद्रामग्न कर पाता ! उन दिनों उन्हें अधिक नींद नहीं आती थी। स्वास्थ्य काफी बिगड़ चुका था। उन्होंने मुझे बताया था - ज्ञान होने के बाद से जीवन में किसी दिन चार घण्टे से अधिक नहीं सो सका हूँ। उन दिनों तो उन्हे नीद बिल्कुल भी नहीं आती थी।

स्वामीजी जब उग्ररूप धरण करते, तो उसमें भी एक तरह का माधुर्य रहा करता था। उनकी यह खास विशिष्टता थी कि नाराजगी के बाद तुरन्त ही उनका वह भाव लुप्त हो जाता और पुनः वही प्रेमपूर्ण मधुरभाव व्यक्त हो उठता। किसी को आभास तक नहीं मिलता कि कुछ ही क्षणों पूर्व वे नाराज हुए थे। उनके रौद्रभाव के समय कोई उनके निकट जाने का साहस नहीं करता, यहाँ तक कि गुरुभाई भी उनसे दूर ही रहते; परन्तु वह भाव दूर होते ही जिस पर वे रुष्ट होते, वह भी निकट आने पर नहीं समझ पाता कि उनके अन्दर नाराजगी भी सम्भव है। वे सबके प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे। उनके गुरुभाइयों और आश्रित शिष्यों तथा भक्तों में से प्रत्येक ने समान रूप से ऐसा ही अनुभव किया था।

एक बार स्वामीजी किसी भूल के चलते कन्हाई महाराज पर बहुत नाराज हुए। एक छड़ी लेकर थोड़ी देर तक उनका पीछा करने के बाद वे थककर बैठ गये। पर दूसरे ही क्षण उनके क्रोध का भाव लुप्त हो गया। बरसात के दिनों में एक बार मठ के ब्रह्मचारी वर्षा का शुद्ध जल एकत्र कर रहे थे। किसी कारण स्वामीजी दो ब्रह्मचारियों को खूब फटकार रहे थे। उनकी डाँट सुनकर मैं काँपने लगा और मेरे हाथ से शुद्ध जल की बोतल गिर पड़ी। यह देख स्वामीजी के भाव में परिवर्तन हुआ। उसी क्षण उनका क्रोध गायब हो गया। वे बोले, "बाबा, तू nervous हो (घबरा) गया है ? जा मेरे कमरे में एक दवा है; खा कर सो जा।"

अब शिष्यों के प्रति स्वामीजी के शिक्षादान के विषय में कुछ कहने का प्रयास करूँगा। स्वामीजी ने अपने आश्रितों को केवल उपदेश ही दिये हों ऐसी बात नहीं, वे दिन-प्रतिदिन उनकी मंगल-कामना भी करते थे। एक घटना का उल्लेख करता हूँ। मैं काशी के सेवाश्रम से पन्द्रह दिनों की छुट्टी लेकर 'मठ' गया था। सेवाश्रम में कर्मियों का अभाव था, अतः कार्य में असुविधा होने पर वहाँ से मेरे लौट आने का संवाद आया। मैं बीमारी के बाद थोड़ा स्वस्थ हुआ था। स्वामीजी लौटने के तकाजे की बात सुनकर बोले, "पहले थोड़ा स्वस्थ हो जाय, फिर खूब सेवाश्रम होगा।" स्वामीजी की इच्छा थी कि वे मेरे कल्याणार्थ मुझे कुछ दिन और अपने पास रखें। इसी प्रकार वे सबके भले की ओर विशेष ध्यान रखते थे।

स्वामीजी अपने शिष्यों को यह भी सिखाते कि उनके गुरुभाइयों के साथ कैसा व्यवहार करना होगा। श्रीरामकृष्णदेव की सन्तानों को वे ठाकुर के एक वृहत् परिवार के रूप में देखते थे। ठाकुर जिन्हें 'ईश्वरकोटि' बता गये थे, स्वामीजी उनके प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने को कहा करते। इस विषय में वे ठाकुर को ही मूल या श्रेष्ठ प्रमाण मानते थे। ठाकुर जिनको जिस श्रेणी का कह गये हैं, स्वामीजी उन्हें तदनुरूप सम्मान देने को कहते। स्वामीजी अपने शिष्यों को बताते कि वे ठाकुर की सन्तानों को ताऊ, पिता, चाचा आदि रूपों में यथायोग्य सम्मान की दृष्टि से देखें। मठ में एक बार जगन्नाथजी का महाप्रसाद आया। मेरे उपर उसके वितरण का उत्तरदायित्व आया। गुरुजनों को मैंने ताऊ, पिता, चाचा आदि मानकर, उसी क्रम से महाप्रसाद बाँटा। परन्तु एक वृद्ध साधु जो स्वामीजी के शिष्य थे, पहले प्रसाद न पाने के कारण थोड़े रुष्ट हुए, जिसके फलस्वरूप थोड़ा विवाद हो गया।स्वामीजी ने इसके निर्णय का भार पूजनीय शरत महाराज को सौंपा। उन्होंने सब सुनकर स्वामीजी को बताया, ''इसने ठीक ही किया है। जिसे पहले मिलना चाहिये उसे पहले और जिसे बाद में मिलना चाहिये उसे बाद में देकर इसने न्यायोचित कार्य किया है।''

उनके गुरुभाई तथा शिष्यगण श्रीरामकृष्णदेव के उदार भाव तथा उपदेशों को ठीक ठीक कार्यान्वित कर सकें – इस ओर स्वामीजी का विशेष ध्यान था। केवल ठाकुर के नाम का प्रचार करने को वे ज्यादा व्यग्र न थे। एक बार काशी के आश्रम से मठ लौट आने पर, काशी के लोगों ने मुझे स्वामीजी से यह पूछने को लिखा था कि अनाथाश्रम का क्या नाम हो। स्वामीजी ने 'Home of Service' (सेवाश्रम) नाम प्रस्तावित किया। इसे सुनकर राखाल महाराज बोले, "Ramakrishna Home of Service (रामकृष्ण सेवाश्रम) होना चाहिए।" स्वामीजी बोले, "यह तुम्हारा ठाकुर के नाम-प्रचार का प्रयास है। ठाकुर के भाव तथा उपदेशों का प्रचार ही मूल बात है। उनके नाम का प्रचार करने की इतनी व्यग्रता क्यों ?

काशी सेवाश्रम के रामकृष्ण मिशन के नियंत्रण में आने के पूर्व स्वामीजी ने सबको सेवाश्रम का ठीक ठीक हिसाब-किताब रखने को कहा था। उनका एक निर्देश और भी था– जो धन जिस उद्देश्य के लिये दान में आता है उसका उसी कार्य के लिये उपयोग होना चाहिये। (शेष आगामी अंक में)

स्वतंत्रता और सर्वधर्म समभाव

स्वामी आत्मानन्द

जिस दिन से हम स्वतंत्र हुए हैं, तब से राष्ट्रीय एकता अधिकाधिक चर्चा का विषय रही है। गुलामी के दिनों में देश की स्वतंत्रता की भावना ही हमारी राष्ट्रीय एकता का मूल स्रोत थी। अपने कन्धों पर-से विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने की तमन्ना में ही हमारे तन–मन की सब क्रियाएँ केन्द्रित थीं। परन्तु जब १९४७ में वह लक्ष्य प्राप्त हो गया, तब अनेक प्रकार की विध्वंसक और विघटनकारी ताकतें इस देश में उभरने लगीं, जो आज हमारे देश की अखण्डता के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गयी हैं। भाषा, जाति, समाज, सम्प्रदाय, राज्य, धर्म– ये प्रायः कुछ ऐसे मसले हैं, जो विघटनकारी शक्तियों को उभार देते हैं। कभी कभी छोटे मसले को भी लेकर– जैसे किसी एक नगर विशेष के बँटवारे को लेकर ही – राज्यों में विवाद शुरू हो जाता है, जो सुलझ न पानेवाली प्रतिक्रियाओं की गुत्थी बनकर रह जाता है और राष्ट्र की शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर देता है।

प्रश्न है कि संकीर्ण स्वार्थपूर्ण लिप्सा पर आधारित इन विघटनकारी ताकतों का प्रतिकार कैसे किया जाय? यदि हम अपने क्षुद्र भौगोलिक, भाषायी एवं साम्प्रदायिक स्वार्थों का वृहत्तर समाज के हित में परित्याग न करें, तो राष्ट्रीय एकता क्योंकर चरितार्थ होगी? राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि अन्य भाषा-भाषी, अन्य प्रान्त या धर्म के लोगों के प्रति प्रेम और आदर का भाव बचपन से ही भरा जाय, जिससे समय पाकर उसकी जड़ें मजबूत होती जायँ। यहाँ पर स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। न केवल वे राष्ट्रीय एकता के ज्वलन्त उदाहरण स्वरूप थे, बल्कि वे विश्वमानव थे। ऐसे समय में जब हम राष्ट्रीय एकता के लिए परस्पर प्रेम और आदर की बातें कर रहे हैं, उनके उन उद्‌गारों का स्मरण करना स्वाभाविक है, जिन्हें जवाहरलाल नेहरू ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में उद्धरित किया है –

''मैं पूरी तरह से आश्वस्त हूँ कि कोई भी व्यक्ति या देश अपने आप को दूसरों से अलग रखकर जीवित नहीं रख सकता। जब भी कोई थोथे बड़प्पन, सिद्धान्त अथवा साधुता के नाम पर ऐसा करता है तो उसका परिणाम उसके लिए घातक होता है। वास्तव में हमारा विश्व के अन्य देशों से कटकर

अलग रहना ही हमारे पतन का कारण बना और इसीलिए इसका एकमात्र निदान फिर से विश्व की उस धारा से जुड़ने में ही है। गति ही जीवन का लक्षण है।"

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द के मुख से निःसृत ये शब्द देश की कूपमण्डूकता वाली वृत्ति के सन्दर्भ में थे, पर यही वह कारण भी है जिससे प्रेरित हो हम अपने तथाकथित साम्प्रदायिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त छोटे छोटे दायरों में बँटकर आपस में लड़ रहे हैं। स्वामीजी भारतीय जनों की एकता में विश्वास रखते थे । उनका विश्वास था कि हिन्दू, मुसलमान और विभिन्न धर्मावलम्बी लोग हमारी संस्कृति की समृद्धि के लिए मोजैक पत्थर के विभिन्न दानों की भाँति हैं। उनका यह भी विश्वास था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को परस्पर एक-दूसरे की विशिष्टताओं को सीखना होगा, जिससे वे न केवल अच्छे हिन्दू अथवा अच्छे मुसलमान बन सकें, बल्कि वे अच्छे इन्सान बन सकें। मनुष्य-निर्माण उनका धर्म था। उन्होंने अपने देशवासियों का क्षुद्र स्वार्थ और विद्वेष को त्याग उपर उठकर मनुष्य की इस पूर्णता को हासिल करने का आह्वान किया था तथा इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने हिन्दुओं को संकीर्ण जातीयता तथा साम्प्रदायिकता के ऊपर उठने तथा मानव में निहित पूर्णता और दिव्यता को देखने की प्रेरणा दी थी। मनुष्य-निर्माण रूपी इस धर्म में सहायक के रूप में उन्होंने लोकतंत्र की आधुनिक विचारधारा और प्रणाली पर बल दिया, जो व्यक्ति की स्वाधीनता, समानता और पवित्रता में विश्वास रखती है।

लोकतंत्र की ताकत उसकी जनता में निहित है। भारत का लोकतंत्र हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी और अन्यान्य धर्मावलम्बी लोगों को ऐसा नागरिक बनाना चाहता है, जो सार्वभौमिक और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थावान रहे। यही महत् प्रयास विश्व के महान धर्मों से प्रचुर जीवनी-शक्ति पा सकता है। वास्तव में राजनीतिक अथवा आर्थिक लोकतंत्र भी बिना मार्गदर्शन और प्रेरणा के, जो कि एकमात्र धर्म से मिल सकती है, अधिक समय तक टिका नहीं रह सकता। यही नहीं, वह गलत दिशा में भी प्रवृत्त हो सकता है। पर यह प्रेरणा धर्म के मूल सत्यों से प्राप्त करनी होगी, न कि उसके सैद्धान्तिक अथवा साम्प्रदायिक रूप से। लोकतंत्र को नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के स्तर तक उठाने का कार्य उन सबकी बाट जोह रहा है, जो राष्ट्रीय एकता के लिए चेष्टारत हैं।

भारतीय जनता की सामाजिक संरचना का प्रभाव देश के सामाजिक कानूनों और राजनीतिक स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए उसका स्वाभाविक रुझान एकता की ओर ही होगा। अल्पसंख्यकों की समस्या निस्सन्देह एक प्रबल मुद्दा है, परन्तु यदि आपसी प्रेम और सद्भाव के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास किया जाय, तो बाह्य विरोधाभास के बावजूद अन्ततोगत्वा एकता की उपलब्धि होगी। राजनैतिक आवश्यकता तथा जोड़-तोड़ के लिए गठित समिति और समझौतों से मिली एकता की तुलना में यह अधिक स्थायी और उच्च स्तर की होगी।

राजनीति का दबाव हमें टुकड़े टुकड़े कर दे रहा है, पर परस्पर प्रेम और सद्भाव पर आधारित सामाजिक चेतना हमें जोड़ सकती है। सामाजिक तथा आर्थिक शक्ति से समृद्ध संस्कृति तथा विश्व स्थिति की यथार्थता इस प्रक्रिया में और तेजी ला सकती है। आज देश में आवश्यकता है कि हम एकता के इस लक्ष्य को चुपचाप तथा दृढ़भाव से प्राप्त करने का प्रयास करें। हमें यह अनुभव करना होगा कि राजनीति सामाजिक शक्ति का खिलौना मात्र है। सामाजिक चेतना में राजनीति की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी पैठ होती है। समाज को संगठित करने में सामाजिक शक्तियों के इस शुभ प्रयास में देश को स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व और सन्देशों से मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिल सकती है।

लोकतंत्र के प्रभाव से हिन्दू समाज की असमानता दूर होगी, जो उसके कदमों को संतुलित करने में सहायक होगी। इतिहास के पृष्ठों को पलटकर देखने से सिख अलगाववादी समझ सकता है कि जिस समाज की रक्षा के लिए वह अस्तित्व में आया, उसी समाज के सदस्यों की हत्या करके वह अपने ही देश के बृहत् हितों को नष्ट कर रहा है और वह देश की हजार साल की गुलामी के लिए जिम्मेदार विध्वंसक ताकतों के हाथ में खेल रहा है। ईसा का अपने पड़ोसी को प्रेम और सहायता करने का उपदेश धर्मान्तरण करने और अपने अनुनाइयों में गैर-राष्ट्रीय भावना भरने का समानार्थी नहीं हो सकता। संस्कृति एवं आर्थिक प्रगति से सामान्य औसत मुसलमान के साम्प्रदायिकता तथा धर्मान्धता के प्रचार की लहर में बह जाने की सम्भावना कम होगी और वह अपने उन मूल्यों को अधिकाधिक स्वीकारने लगेगा जो सार्वभौमिक और मानवीय हैं। आज के भारतीय मुसलमान को सहिष्णु इस्लाम के उपदेशों के

व्यवहार और प्रचार की आवश्यकता है। सक्षेप में, आज इस्लामी लोकतंत्र को मानवीय लोकतंत्र में बदलना होगा।

भारत का इतिहास और भारत के हिन्दू और मुसलमान समाज का चरित्र कुछ और ही होता यदि इस्लाम भारत में मित्र बनकर शान्ति से आता। उस स्थिति में वह ऊँच-नीच की भावना से मुक्त समानता का सन्देश देकर हिन्दू समाज रूपी भवन की गर्द को साफ कर देता – हिन्दूधर्म सहर्ष उसे स्वीकारता और बदले में उसे सहिष्णु दृष्टिकोण प्रदान करता। परन्तु सच्चाई तो यह है कि इस्लाम बहुलांश में भारत में सैनिक आक्रान्ताओं द्वारा लाया गया जो अपने को इस्लाम का अनुयायी तो कहते थे, पर आचरण में वे अपने देश की बर्बरता ही दर्शाते थे। भारत को रौंदकर हिन्दूधर्म को नेस्तनाबूद कर देने की उन लोगों की चेष्टा देख हिन्दू के लिये इस्लाम आँख की किरकिरी बनकर रह गया। धर्म और संस्कृति के परस्पर सम्बन्धों की गाथा के ये कुछ ऐसे दुःखद ऐतिहासिक पृष्ठ हैं, जिन्होंने कटु परिणामों की सृष्टि की, अन्यथा वे मानव धर्म तथा संस्कृति के लिए उपयोगी और दिव्य फल देनेवाले हो सकते थे।

पर सामाजिक चेतना मानवीय सनक और उन्मादों पर विजय पाती है और यदि हम राष्ट्रीय एकता चाहते हैं तो हमें यह करना होगा। क्या भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत हिन्दुधर्म की भाँति अपने विशिष्ट तत्वों के साथ विश्व के अन्य लोगों के लिए सन्देश लेकर विश्वशक्ति के रूप में नहीं उभर सकते? धर्म भारत की भूमि पर सबसे अच्छी तरह पुष्ट हो सकता है। भारतीय– चाहे हिन्दू हो, या मुसलमान या ईसाई– गहरा धार्मिक होता है। क्षुद्र राजनैतिक लिप्सा से संयुक्त हो धार्मिक भावना अत्यन्त घृणित पाशविकता प्रदर्शित कर सकती है। आध्यात्मिक्ता और मानव-सेवा की उदात्त भावना से संयुक्त हो यह अत्युच्च दिव्य पक्ष को भी उजागर कर सकती है। अब यह हिन्दू, मुसलमान और ईसाई लोगों पर है कि वे देखें कि उनका धर्म इस दूसरे पक्ष को ही प्रकट करे। एक सामान्य भारतीय मुसलमान यह समझना जरूर सीख ले कि सैनिक आक्रान्ता और धर्मान्ध लोग मनुष्यों में अपवाद और असामान्य थे, जो इस्लाम के नाम की आड़ में स्वयं की रक्तपिपासा और अहकार की पूर्ति करते थे।

भारतीय मुसलमान अपने धर्म के सन्तों और फकीरों को अधिक महत्व

देना सीखें, जिन्होंने लोगों को खुशियाँ बाँटी और उम्मीदें जगायीं। वे यह न भूलें कि इस्लाम के पैगम्बर मनुष्यों को सावधान करने आये थे; वे लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने आये थे। वे आये थे – जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था – मानव समाज के लिए आशीर्वचन बनकर, न कि अभिशाप बनकर। भारतीय ईसाइयों के लिए उचित है कि वे राजनैतिक आवश्यकताओं से उत्पन्न प्रलोभनों से उपर उठें। वे यह सीखें कि किस प्रकार वे अपने आप को विदेशी मिशनरियों के हाथों खेलने से बचावें, जो ईसामसीह के नाम पर अलगाववाद सिखाते हैं तथा भारतीय संस्कृति की मूल जड़ को ही काट देना चाहते हैं, जिससे भारतीय ईसाई भारतीय न रह सकें तथा भारत की मिट्टी से अपनी एकात्मता स्थापित न कर सकें। वह दिन भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा जब भारतीय इस्लाम और भारतीय ईसाइयत ऐसे सन्तों और मनीषियों को जन्म देगी, जो बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सब पर अपनी कृपा का वर्षण करेंगे तथा सब लोगों की श्रद्धा अर्जन करेंगे; क्योंकि जीवन्त-धर्म की कसौटी ऐसे सन्तों की उत्पत्ति में है, जो ईश्वर तथा मनुष्य के श्रेष्ठत्व के द्रष्टा होते हैं। राजनीति के साथ अत्यन्त घनिष्ठ तथा दीर्घ सम्बन्ध धर्म की मूल आत्मा को भी नष्ट कर सकता है।

समाज आज अपने नेताओं से मार्गदर्शन चाहता है। नसें अब और अधिक समय तक द्वेष और घृणा के दबाव को सहन नहीं कर सकतीं। आज हमारी मातृभूमि हमारे मतभेदों को दफना देने का आह्वान कर रही है। वह सर्वत्र प्रेम की लहर बहा देने की माँग कर रही है। ऐसे समय आज स्वामी विवेकानन्द द्वारा १० जून १८९८ को अपने मित्र मुहम्मद सरफराज हुसैन को दिया वह पत्र हमारे लिए विशेष चिन्तन और मनन का विषय है, जिसमें उन्होंने लिखा था –

“ हम मनुष्य जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य जाति को यह शिक्षा देनी चाहिये कि सब धर्म, उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

ॐ